

Chapter दो

दिव्यता तथा दिव्य सेवा

व्यास उवाच

इति सम्प्रश्नसंहृष्टो विप्राणां रौमहर्षणिः ।

प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

व्यासः उवाच—व्यास ने कहा; इति—इस प्रकार; सम्प्रश्न—पूर्ण जिज्ञासा; संहृष्टः—पूर्ण रूप से सन्तुष्ट; विप्राणाम्—वहाँ के मुनियों का; रौमहर्षणिः—रौमहर्षण के पुत्र, उग्रश्रवा; प्रतिपूज्य—उनको धन्यवाद देकर; वचः—शब्द; तेषाम्—उनके; प्रवक्तुम्—उन्हें उत्तर देने के लिए; उपचक्रमे—प्रयत्न किया।

रौमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा (सूत गोस्वामी) ने ब्राह्मणों के सम्यक् प्रश्नों से पूर्णतः प्रसन्न होकर उन्हें धन्यवाद दिया और वे उत्तर देने का प्रयास करने लगे।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के मुनियों ने सूत गोस्वामी से छह प्रश्न पूछे और अब वे एक एक करके उनका उत्तर दे रहे हैं।

सूत उवाच

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं

द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।

पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-

स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; यम्—जिसको; प्रव्रजन्तम्—संन्यास लेते समय; अनुपेतम्—जनेऊ (यज्ञोपवीत) संस्कार किये बिना; अपेत—संस्कार न करके; कृत्यम्—करणीय कर्तव्य; द्वैपायनः—व्यासदेव ने; विरह—वियोग से; कातरः—भयभीत होकर; आजुहाव—पुकारा; पुत्र इति—हे पुत्र; तत्—मयतया—इस प्रकार लीन होकर; तरवः—सारे वृक्षों ने; अभिनेदुः—उत्तर दिया; तम्—उसको; सर्व—समस्त; भूत—जीवों के; हृदयम्—हृदय; मुनिम्—मुनि को; आनतः अस्मि—नमस्कार करता हूँ।

श्रील सूत गोस्वामी ने कहा : मैं उन महामुनि (शुकदेव गोस्वामी) को सादर नमस्कार करता हूँ जो सबों के हृदय में प्रवेश करने में समर्थ हैं। जब वे यज्ञोपवीत संस्कार अथवा

उच्च जातियों द्वारा किए जाने वाले अनुष्ठानों को सम्पन्न किये बिना संन्यास ग्रहण करने चले गये तो उनके पिता व्यासदेव उनके वियोग के भय से आतुर होकर चिल्ला उठे, “हे पुत्र,” उस समय जो वैसी ही वियोग की भावना में लीन थे, केवल ऐसे वृक्षों ने शोकग्रस्त पिता के शब्दों का प्रतिध्वनि के रूप में उत्तर दिया।

तात्पर्य : वर्ण तथा आश्रम प्रथा में अनुयायियों द्वारा पालन करने के लिए अनेक कर्तव्य निर्दिष्ट किये गये हैं। ऐसे कर्तव्यों में निर्देश है कि वेदों का अध्ययन करने वाले जिज्ञासु को प्रामाणिक गुरु के पास जाकर अपने को शिष्य के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना करनी होती है। जो प्रामाणिक गुरुओं अथवा आचार्य से वेदों का अध्ययन करने के लिए सुयोग्य हैं, जनेऊ (यज्ञोपवीत) उनका प्रतीक है। श्री शुकदेव गोस्वामी ने ये संस्कार नहीं किये, क्योंकि वे जन्म से ही मुक्तात्मा थे।

सामान्य रूप से मनुष्य साधारण जीव के रूप में जन्म लेता है और शुद्धीकरण संस्कारों के द्वारा उसका दुबारा जन्म होता है। जब उसे नया प्रकाश दिखता है और वह आध्यात्मिक उन्नति के लिए दिशा खोजता है, तो वेदों के उपदेश हेतु वह गुरु के पास जाता है। गुरु केवल निष्ठावान जिज्ञासु को ही शिष्य रूप में अपनाते हैं और उसे जनेऊ (यज्ञोपवीत) प्रदान करते हैं। इस प्रकार से मनुष्य दूसरी बार जन्मता है या द्विज बनता है। द्विज बनने के बाद वह वेदों का अध्ययन करता है और वेदों में पटु होने पर वह विप्र बनता है। विप्र या योग्य ब्राह्मण परम ब्रह्म का साक्षात्कार करता है और तब तक आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करता रहता है, जब तक वह वैष्णव अवस्था तक नहीं पहुँच जाता। वैष्णव अवस्था यह किसी ब्राह्मण के लिए स्नातकोत्तर अवस्था है। प्रगतिशील ब्राह्मण को निश्चित रूप से वैष्णव बनना चाहिए, क्योंकि वैष्णव ही स्वरूपसिद्ध विद्वान ब्राह्मण होता है।

श्रील शुकदेव गोस्वामी प्रारम्भ से ही वैष्णव थे, अतः उन्हें वर्णाश्रम-धर्म के संस्कारों की कोई आवश्यकता न थी। वर्णाश्रम-धर्म का चरम लक्ष्य अपरिष्कृत मनुष्य को भगवान् के शुद्ध भक्त या वैष्णव में बदलना है। अतः जो व्यक्ति उत्तम अधिकारी वैष्णव द्वारा स्वीकृत किए जाने

पर वैष्णव बन जाता है, चाहे उसका जन्म या पूर्व कर्म कैसे भी रहे हों, उसे ब्राह्मण माना जाता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस सिद्धान्त को स्वीकर किया था और श्रील हरिदास ठाकुर को *नामाचार्य* बनाया था, यद्यपि हरिदास ठाकुर का जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था। निष्कर्ष यह है कि श्रील शुकदेव गोस्वामी जन्म से ही वैष्णव थे, अतः वे ब्राह्मणत्व से समन्वित थे। उन्हें किसी प्रकार के संस्कार करने की आवश्यकता न थी। कोई भी निम्नकुल में उत्पन्न व्यक्ति, चाहे वह किरात हो, या हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुलकश, आभीर, शुम्भ, यवन, खस, या इनसे भी निम्न हो, वैष्णवों की कृपा से उसका उद्धार हो जाता है और वह सर्वोच्च दिव्य पद को प्राप्त करता है। श्रील शुकदेव गोस्वामी श्री सूत गोस्वामी के गुरु थे, अतः वे नैमिषारण्य के मुनियों के प्रश्नों के उत्तर देने के पूर्व अपने गुरु को नमस्कार करते हैं।

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक-
मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; स्व-अनुभावम्—आत्म-अनुभवी; अखिल—समस्त; श्रुति—वेदों का; सारम्—सार, निष्कर्ष; एकम्—एकमात्र; अध्यात्म—दिव्य; दीपम्—दीपक; अतितितीर्षताम्—पार जाने की इच्छा से; तमः अन्धम्—गहन अंधकारमय भौतिक अस्तित्व; संसारिणाम्—भौतिकतावादी मनुष्यों का; करुणया—अहैतुकी कृपा से; आह—कहा; पुराण—पुराण, वेदों के पूरक ग्रंथ; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; तम्—उन; व्यास-सूनुम्—व्यासदेव के पुत्र को; उपयामि—नमस्कार करता हूँ; गुरुम्—गुरु को; मुनीनाम्—मुनियों के।

मैं समस्त मुनियों के गुरु, व्यासदेव के पुत्र (शुकदेव) को सादर नमस्कार करता हूँ जिन्होंने संसार के गहन अंधकारमय भागों को पार करने के लिए संघर्षशील उन निपट भौतिकतावादियों के प्रति अनुकम्पा करके वैदिक ज्ञान के सार रूप इस परम गुह्य पुराण को स्वयं आत्मसात् करने के बाद अनुभव द्वारा कह सुनाया।

तात्पर्य : इस स्तुति में श्रील सूत गोस्वामी *श्रीमद्भागवत* की पूर्ण भूमिका का सार प्रस्तुत करते हैं। *श्रीमद्भागवत* वेदान्त-सूत्रों की सहज पूरक टीका है। व्यासदेव ने वैदिक ज्ञान का सार प्रस्तुत करने के उद्देश्य से वेदान्त-सूत्र या ब्रह्म-सूत्र का संकलन किया था। *श्रीमद्भागवत* इस सार

का सहज भाष्य है। श्रील शुकदेव गोस्वामी वेदान्त-सूत्र के पूर्ण रूप से अनुभूत पंडित थे, अतः उन्होंने इस टीका की स्वयं भी अनुभूति की थी। और जो अज्ञानता के सागर को पूरी तरह से पार करना चाहते हैं, ऐसे मोहग्रस्त भौतिकतावादी व्यक्तियों पर असीम कृपा करके उन्होंने इस गुह्य ज्ञान को प्रथम बार सुनाया।

इस पर तर्क करना निरर्थक है कि भौतिकतावादी व्यक्ति सुखी हो सकता है। कोई भी भौतिकतावादी जीव—चाहे वह महान् ब्रह्मा हो, या कि क्षुद्र चींटी, सुखी नहीं रह सकता। प्रत्येक व्यक्ति सुख की स्थायी योजना बनाता है, किन्तु वह प्रकृति के नियमों से परास्त हो जाता है। अतः भौतिकतावादी संसार ईश्वर की सृष्टि का सर्वाधिक अन्धकारमय भाग कहलाता है। तथापि दुखी भौतिकतावादी व्यक्तियों के इससे निकलने की मात्र इच्छा करने से ही वे बाहर निकल सकते हैं। दुर्भाग्यवश वे इतने मूर्ख हैं कि बाहर निकलना चाहते ही नहीं। अतः उनकी तुलना उस ऊँट से की जाती है, जिसे कँटीली टहनियाँ पसन्द हैं, क्योंकि रक्त से सनी टहनियों का स्वाद उसे अच्छा लगता है। वह ऐसा समझ नहीं पाता कि यह तो उसका अपना ही रक्त है, जो काँटों के द्वारा जीभ के कट जाने से निकलता है। इसी प्रकार भौतिकतावादी व्यक्ति को अपना खुद का रक्त मधु की तरह मीठा लगता है और वह अपनी ही भौतिक कृतियों से परेशान होने पर भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहता। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्ति *कर्मी* कहलाते हैं। ऐसे लाखों कर्मियों में से कुछ ही भौतिक व्यापार से उब कर इस भूलभुलैया से निकल भागना चाहते हैं। ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति *ज्ञानी* कहलाते हैं। वेदान्त-सूत्र ऐसे ही ज्ञानियों के लिए है। किन्तु परमेश्वर का अवतार होने के कारण, श्रील व्यासदेव को पूर्वानुमान हो गया था कि धूर्त लोग वेदान्त-सूत्र का दुरुपयोग कर सकते हैं, इसीलिए उन्होंने वेदान्त-सूत्र के पूरक रूप में *भागवत-पुराण* की रचना की। यह स्पष्ट कथन है कि यह *भागवत* ब्रह्म-सूत्रों का मूल भाष्य है। श्रील व्यासदेव ने अपने पुत्र श्रील शुकदेव को भी *भागवत* का उपदेश दिया, जो पहले से अध्यात्म अवस्था को प्राप्त एक मुक्त पुरुष थे। श्रील शुकदेव ने स्वयं इसकी अनुभूति की और तब इसका व्याख्यान किया। श्रील शुकदेव की

कृपा से *भागवत-वेदान्त-सूत्र* उन सभी निष्ठावान लोगों के लिए सुलभ है जो भवसागर से उबरना चाहते हैं।

श्रीमद्भागवत वेदान्त-सूत्र का अद्वितीय भाष्य है। श्रीपाद शंकराचार्य ने जानबूझ कर इसे नहीं छुआ, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि इस सहज टीका को मात देना उनके लिए कठिन होगा। उन्होंने 'शारीरक-भाष्य' लिखा और उनके तथाकथित अनुयायियों ने *भागवत* को 'नवीन' कृति कहकर इसका तिरस्कार किया। *भागवत* के विरुद्ध मायावाद सम्प्रदाय द्वारा ऐसे प्रचार से किसी को भ्रमित नहीं होना चाहिए। इस प्रास्तविक श्लोक से नौसिखिए जिज्ञासु को यह जानना चाहिए कि *भागवत* एकमात्र दिव्य साहित्य है, जो परमहंसों तथा ईर्ष्या-द्वेष रूपी भौतिक रोग से मुक्त व्यक्तियों के लिए है। मायावादी भगवान् के प्रति ईर्ष्यालु होते हैं, यद्यपि श्रीपाद शंकराचार्य ने भगवान् नारायण को सृष्टि से ऊपर (परे) बताया है। ये ईर्ष्यालु मायावादी *भागवत* तक नहीं पहुँच पाते, किन्तु जो लोग सचमुच इस भवसागर से पार निकलने के इच्छुक हैं, वे *भागवत* का आश्रय ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि इसका प्रवचन मुक्त पुरुष श्रील शुकदेव गोस्वामी ने किया है। यह वह दिव्य प्रकाशपुंज है जिसके द्वारा ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् के रूप में अनुभूति किये जाने वाले दिव्य परम सत्य को भली भाँति देखा जा सकता है।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।

देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

नारायणम्—भगवान् को; नमः-कृत्य—नमस्कार करके; नरम् च एव—तथा नारायण ऋषि को; नर-उत्तमम्—सर्वश्रेष्ठ मनुष्य; देवीम्—देवी; सरस्वतीम्—विद्या की अधिष्ठात्री को; व्यासम्—व्यासदेव को; ततः—तत्पश्चात्; जयम्—विजय प्राप्त करने के लिए; उदीरयेत्—घोषित करे।

विजय के साधनस्वरूप इस श्रीमद्भागवत का पाठ करने (सुनने) के पूर्व मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीभगवान् नारायण को, नरोत्तम नरनारायण ऋषि को, विद्या की देवी माता सरस्वती को तथा ग्रंथकार श्रील व्यासदेव को नमस्कार करे।

तात्पर्य : सारा वैदिक साहित्य तथा सारे पुराण इस भौतिक जगत के गहनतम भागों पर विजय प्राप्त करने के लिए हैं। जीव अनादि काल से भौतिक इन्द्रियतृप्ति के प्रति आसक्त होने के कारण ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल चुका है। इस भौतिक जगत में उसका जीवन-संघर्ष अविरत चलने वाला है और इस के लिए कोई योजना बनाकर जीव का इसमें से निकल पाना सम्भव नहीं है। यदि वह इस अविरत जीवन-संघर्ष पर विजय पाना चाहता है, तो उसे ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को पुनःस्थापित करना होगा। जो भी इस प्रकार के निवारक उपाय अपनाना चाहता है, उसे वेदों तथा पुराणों जैसे साहित्य का आश्रय लेना होगा। मूर्ख लोगों का कहना है कि पुराणों का वेदों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। किन्तु ये पुराण विभिन्न प्रकार के लोगों के लिए वेदों की पूरक व्याख्याएँ हैं। सभी मनुष्य एक से नहीं होते। कुछ लोग सतोगुणी होते हैं, कुछ रजोगुणी होते हैं और कुछ तमोगुणी होते हैं। पुराणों को इस प्रकार से विभक्त किया गया है कि किसी भी श्रेणी के लोग उनसे लाभ उठा सकते हैं और धीरे-धीरे अपनी खोई हुई स्थिति को पुनः प्राप्त करके कठोर जीवन-संघर्ष से बाहर निकल सकते हैं। श्रील सूत गोस्वामी पुराणों के पाठ की विधि प्रदर्शित करते हैं। जो लोग वैदिक साहित्य तथा पुराणों के उपदेशक बनना चाहते हैं, वे इस विधि का पालन कर सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* निष्कलंक पुराण है और यह विशेषकर उनके लिए है, जो स्थायी रूप से भव-बन्धन से छूटने के इच्छुक हैं।

मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिलोकमङ्गलम् ।

यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मुनयः—हे मुनियों; साधु—यह प्रासंगिक है; पृष्टः—पूछा गया; अहम्—मैं; भवद्भिः—आप लोगों के द्वारा; लोक—संसार; मङ्गलम्—मंगल, कल्याण; यत्—क्योंकि; कृतः—बनाया गया; कृष्ण—भगवान्; सम्प्रश्नः—संगत प्रश्न; येन—जिससे; आत्मा—स्व; सुप्रसीदति—पूर्ण रूप से प्रसन्न होता है।

हे मुनियों, आपने मुझसे ठीक ही प्रश्न किया है। आपके प्रश्न श्लाघनीय हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान् कृष्ण से है और इस प्रकार वे विश्व-कल्याण के लिए हैं। ऐसे प्रश्नों से ही पूर्ण आत्मतृप्ति हो सकती है।

तात्पर्य : चूँकि पहले कहा जा चुका है कि *भागवत* के द्वारा परम सत्य को जाना जा सकता है, अतएव नैमिषारण्य के ऋषियों के प्रश्न उचित हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर, परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण से है। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं कि सारे वेदों में भगवान् कृष्ण की खोज की उत्कंठा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस तरह कृष्ण सम्बन्धी प्रश्न सारी वैदिक जिज्ञासाओं के सार-समाहार हैं।

सारा संसार प्रश्नों तथा उत्तरों से परिपूर्ण है। सारे पक्षी, पशु तथा मनुष्य शाश्वत प्रश्नों एवं उत्तरों में व्यस्त हैं। भोर होते ही सारे पक्षी अपने-अपने नीड़ों में प्रश्नों तथा उत्तरों में लग जाते हैं और शाम होते ही वही पक्षी वापस आकर पुनः प्रश्नोत्तर में व्यस्त हो जाते हैं। मनुष्य भी, जब तक प्रगाढ़ निद्रा में सो नहीं जाता, प्रश्नोत्तर में व्यस्त रहता है। व्यापारी बाजारों में प्रश्नोत्तर में लगे रहते हैं और इसी प्रकार न्यायालय में वकील तथा विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में विद्यार्थी भी व्यस्त रहते हैं। सांसद भी संसद में प्रश्नोत्तर में ही लगे होते हैं और राजनीतिज्ञ तथा प्रेस-प्रतिनिधि भी प्रश्नोत्तर में मशगूल दिखते हैं। यद्यपि ये लोग जीवन भर ऐसे प्रश्न तथा उत्तर करते रहते हैं, किन्तु रंचमात्र तुष्ट नहीं हो पाते। आत्मा की तुष्टि तो केवल कृष्ण विषयक प्रश्नोत्तरों से ही हो सकती है।

कृष्ण हमारे अंतरंग स्वामी, मित्र, पिता या पुत्र तथा माधुर्य प्रेम के लक्ष्य (प्रियतम) हैं। कृष्ण को भूल कर हमने प्रश्नों तथा उत्तरों के अनेक विषय बना लिये हैं, किन्तु इनमें से किसी से भी हमें पूर्ण तुष्टि नहीं हो पाती। कृष्ण के अतिरिक्त सारी वस्तुएँ क्षणिक तुष्टि प्रदान करने वाली हैं, अतः यदि हम पूर्ण तुष्टि चाहते हैं, तो हमें कृष्ण विषयक प्रश्नों तथा उत्तरों को ग्रहण करना होगा। बिना प्रश्न किये या उत्तर दिये हम क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकते। चूँकि *श्रीमद्भागवत* कृष्ण विषयक प्रश्नों तथा उत्तरों को बताने वाला ग्रंथ है, अतएव हम इस दिव्य साहित्य के पठन तथा श्रवण मात्र से परम तुष्टि प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य को चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* को समझ कर समस्त सामाजिक, राजनैतिक या धार्मिक विषयों से सम्बद्ध समस्याओं का हल खोज निकाले। *श्रीमद्भागवत* तथा कृष्ण समस्त वस्तुओं के सार हैं।

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; पुंसाम्—मनुष्यों के लिए; परः—दिव्य; धर्मः—वृत्ति; यतः—जिससे; भक्तिः—भक्ति;
अधोक्षजे—अध्यात्म के प्रति; अहैतुकी—अकारण; अप्रतिहता—अखण्ड; यया—जिससे; आत्मा—आत्मा;
सुप्रसीदति—पूर्ण रूप से प्रसन्न होता है।

सम्पूर्ण मानवता के लिए परम वृत्ति (धर्म) वही है, जिसके द्वारा सारे मनुष्य दिव्य भगवान् की प्रेमा-भक्ति प्राप्त कर सकें। ऐसी भक्ति अकारण तथा अखण्ड होनी चाहिए जिससे आत्मा पूर्ण रूप से तुष्ट हो सके।

तात्पर्य : इस कथन के द्वारा श्री सूत गोस्वामी नैमिषारण्य के ऋषियों के प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं। ऋषियों ने सूत जी से अनुरोध किया था कि वे समस्त प्रामाणिक शास्त्रों का सार प्रस्तुत करें, जिससे पतितात्माएँ या जनसामान्य उसे सरलता से ग्रहण कर सकें। वेदों में मनुष्य के लिए दो प्रकार की वृत्तियाँ बताई गई हैं। एक प्रवृत्ति-मार्ग या इन्द्रिय-भोग का मार्ग कहलाती है और दूसरी निवृत्ति-मार्ग या त्याग का मार्ग कहलाती है। भोग का मार्ग निकृष्ट है और परम कारण के हेतु निवृत्ति का मार्ग श्रेष्ठ है। जीव का भौतिक जीवन एक प्रकार से वास्तविक जीवन की रुग्ण अवस्था है। वास्तविक जीवन तो ब्रह्मभूत अवस्था अर्थात् आध्यात्मिक अस्तित्व है, जहाँ जीवन सनातन, आनन्दमय तथा ज्ञान से परिपूर्ण है। भौतिक जीवन नाशवान, मोहपूर्ण तथा कष्टमय है। इसमें सुख तो है ही नहीं। यहाँ केवल कष्टों से छुटकारा पाने का व्यर्थ प्रयास मात्र है और कष्टों का क्षणिक नाश मिथ्या ही सुख कहलाता है। अतः बढ़ते जाने वाले भौतिक भोग का मार्ग नाशवान, कष्टमय तथा मोहपूर्ण होने के कारण निकृष्ट है। किन्तु भगवद्भक्ति श्रेष्ठ धर्म कहलाती है, क्योंकि वह मनुष्य को सनातन, आनन्दमय एवं ज्ञान से परिपूर्ण जीवन की ओर अग्रसर करती है। जब इसमें निकृष्ट गुण मिल जाते हैं तो यह कभी-कभी दूषित हो जाती है। उदाहरणार्थ, भौतिक लाभ के लिये की गई भक्तिमय सेवा प्रगतिशील निवृत्ति मार्ग में बाधक है। इस रुग्ण जीवन को भोगने की अपेक्षा संन्यास या सर्वत्याग श्रेष्ठतर वृत्ति है। ऐसे भोग से केवल रोग के

लक्षण बढ़ते हैं और उसकी अवधि भी बढ़ जाती है। अतः भगवद्भक्ति शुद्ध होनी चाहिए, अर्थात् उसमें भौतिक सुखोपभोग की रंचमात्र कामना नहीं रहनी चाहिए। अतः मनुष्य को चाहिए कि वृथा की कामना, सकाम कर्म तथा दार्शनिक तर्क-वितर्क से रहित भगवद्भक्ति रूपी उच्च कोटि की वृत्ति को स्वीकार करे। इसीसे उनकी सेवा में शाश्वत सन्तोष प्राप्त होगा।

हमने जानबूझ कर धर्म को वृत्ति कहा है, क्योंकि धर्म शब्द का मूल अर्थ है “वह जो किसी के अस्तित्व को सम्हाले रखता है।” जीव के अस्तित्व इसी बात पर निर्भर है कि वह अपने कार्यों को भगवान् कृष्ण के साथ अपने सनातन सम्बन्ध में समन्वित करे। कृष्ण समस्त जीवों के मध्यवर्ती घुरी हैं और वे अन्य समस्त जीवों अथवा शाश्वत रूपों में सर्वाकर्षक व्यक्तित्व हैं। प्रत्येक एवं समस्त जीवों का दिव्य जगत में एक शाश्वत रूप होता है और कृष्ण उन सबों के लिए परम आकर्षक हैं। कृष्ण परम पूर्ण हैं और अन्य सभी उनके अंश-प्रत्यंश हैं। इनमें सेवक तथा सेव्य का सम्बन्ध है; यह दिव्य है और हमारे भौतिक अनुभव से सर्वथा भिन्न है। यह सेवक-सेव्य भाव घनिष्ठता का सर्वाधिक अनुकूल रूप है। जैसे जैसे भक्तिमय सेवा की प्रगति होगी, मनुष्य को इसका अनुभव होगा। हर व्यक्ति को इस भौतिक अस्तित्व की बद्ध अवस्था में भी भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति करनी चाहिए। इससे मनुष्य को क्रमशः वास्तविक जीवन का संकेत प्राप्त हो सकेगा और पूर्ण तुष्टि का आनंद मिलेगा।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवे—कृष्ण के प्रति; भगवति—भगवान् के प्रति; भक्ति-योगः—भक्ति सम्बन्ध; प्रयोजितः—व्यवहृत; जनयति—उत्पन्न करता है; आशु—तुरन्त ही; वैराग्यम्—वैराग्य, विरक्ति; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; यत्—जो; अहैतुकम्—अकारण।

भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने से मनुष्य तुरन्त ही अहैतुक ज्ञान तथा संसार से वैराग्य प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की भक्तिमय सेवा को जो लोग भौतिक भावात्मक व्यापार की भाँति मानते हैं, वे यह तर्क कर सकते हैं कि शास्त्रों में तो यज्ञ, दान, तपस्या, ज्ञान, योग तथा इसी प्रकार की दिव्य साक्षात्कार की विधियों की संस्तुति की गई है। उनके मतानुसार भक्ति अर्थात् भगवान् की भक्तिमय सेवा तो उन लोगों के लिए है, जो उच्च कोटि के कर्म नहीं कर पाते। सामान्यतः यह कहा जाता है कि भक्ति उपासना-पद्धति तो शूद्रों, वैश्यों तथा अल्पबुद्धिमान स्त्री वर्ग के लिए है। किन्तु यह वास्तविक तथ्य नहीं है। भक्ति मार्ग समस्त दिव्य कर्मों में सर्वोपरि है। फलतः यह उत्कृष्ट होने के साथ ही साथ सरल भी है। यह उन शुद्ध भक्तों के लिए उत्कृष्ट है, जो परमेश्वर से सम्पर्क स्थापित करना चाहते हैं, और यह उन नवदीक्षितों के लिए सुगम है, जो भक्ति रूपी घर की दहलीज पर हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करना एक महान विज्ञान है और यह सब जीवों के लिए खुला हुआ है, जिसमें शूद्र, वैश्य, स्त्रियाँ तथा शूद्र से भी निम्नकुल में उत्पन्न लोग सम्मिलित हैं, तो फिर गुणसम्पन्न ब्राह्मणों तथा महान स्वरूपसिद्ध राजाओं जैसे उच्च कोटि के लोगों के विषय में कहना ही है? यज्ञ, दान, तप इत्यादि नाम से प्रचलित अन्य उच्च कोटि के कार्य: ये सभी सूत्र—उप सिद्धान्त हैं जो शुद्ध तथा वैज्ञानिक भक्ति-पद्धति का अनुगमन करते हैं।

दिव्य अनुभूति के मार्ग में ज्ञान तथा वैराग्य के सिद्धान्त दो महत्वपूर्ण कारक हैं। सम्पूर्ण आध्यात्मिक विधि भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रत्येक वस्तु के पूर्ण ज्ञान तक ले जाती है और इस पूर्ण ज्ञान का फल यह होता है कि मनुष्य भौतिक राग से विरक्त होकर आध्यात्मिक कार्यों में अनुरक्त हो जाता है। भौतिक राग से विरक्त होने का अर्थ पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाना नहीं है, जैसाकि अल्पज्ञान वाले लोग सोचते हैं। नैष्कर्म का अर्थ है, ऐसे कर्म न करना जिनका अच्छा या बुरा प्रभाव पड़े। निषेध का अर्थ सकारात्मक का निषेध नहीं है। अनावश्यक कार्यों का निषेध अनिवार्य का निषेध नहीं है। इसी प्रकार भौतिक रूपों से विरक्ति का अर्थ सकारात्मक रूप को नकारना नहीं है। भक्ति उपासना-पद्धति तो सकारात्मक रूप की अनुभूति के लिए निर्मित है। जब सकारात्मक रूप का साक्षात्कार हो जाता है, तो नकारात्मक रूप स्वतः विलग हो जाते हैं। अतः

भक्ति उपासना-पद्धति के विकास के साथ-साथ, वास्तविक रूप की सकारात्मक सेवा में व्यावहारिक रूप से जुड़ जाने से मनुष्य सहज रूप से निम्न कोटि की वस्तुओं से विलग होता जाता है और श्रेष्ठ वस्तुओं से जुड़ जाता है। इसी प्रकार भक्ति उपासना-पद्धति जीव का सर्वोच्च धर्म होने के कारण वह उसे भौतिक इन्द्रिय सुख से बाहर निकालती है। यही शुद्ध भक्त का लक्षण है। वह न तो मूर्ख होता है, न ही वह निकृष्ट शक्तियों में लगा रहता है, और न ही उसके पास भौतिक मूल्य होते हैं। यह केवल शुष्क चिन्तन से सम्भव नहीं। यह तो केवल भगवत्कृपा से ही सम्भव हो पाता है। निष्कर्ष यह है कि जो शुद्ध भक्त है वह अन्य सभी उत्तम गुणों से पूर्ण होता है यथा—ज्ञान, वैराग्य आदि, किन्तु जिसमें केवल ज्ञान तथा वैराग्य होता है वह भक्ति उपासना-पद्धति के नियमों से ठीक से परिचित हो, यह आवश्यक नहीं है। भक्ति मानवजाति का सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—वृत्ति; स्वनुष्ठितः—अपने पद के अनुसार सम्पन्न; पुंसाम्—मनुष्यों का; विष्वक्सेन—भगवान् (पूर्ण अंश) की; कथासु—कथा में; यः—जो है; न—नहीं; उत्पादयेत्—उत्पन्न करता है; यदि—यदि; रतिम्—आसक्ति; श्रमः—व्यर्थ श्रम; एव—निरा; हि—निश्चय ही; केवलम्—पूर्ण रूप से।

मनुष्य द्वारा अपने पद के अनुसार सम्पन्न की गई वृत्तियाँ यदि भगवान् के सन्देश के प्रति आकर्षण उत्पन्न न कर सकें, तो वे निरी व्यर्थ का श्रम होती हैं।

तात्पर्य : मनुष्य की जीवन के प्रति विभिन्न अवधारणाओं के अनुसार वृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। निपट भौतिकतावादी के लिए, जो स्थूल शरीर से परे कुछ भी नहीं देख पाता, इन्द्रियों से परे कुछ भी नहीं है। अतएव उसकी वृत्तियाँ संकेन्द्रित और विस्तारित स्वार्थ तक ही सीमित रहती हैं। यह संकेन्द्रित स्वार्थ अपने ही शरीर के चारों ओर केन्द्रित रहता है—सामान्य रूप से यह निम्न पशुओं में देखा जाता है। विस्तारित स्वार्थ मानव-समाज में दिखता है और यह परिवार, समाज, समुदाय, राष्ट्र तथा विश्व के दृष्टिकोण से शारीरिक सुख के इर्द-गिर्द घूमता है। इन निपट

भौतिकतावादियों के ऊपर मनोधर्मी तर्कवादी होते हैं, जो मनोजगत में उड़ान भरते रहते हैं और उनकी वृत्तियों में कविता बनाना तथा दार्शनिकपन या शरीर तथा मन के वही सीमित स्वार्थ के उद्देश्य से कोई 'वाद' चलाना सम्मिलित होते हैं। किन्तु शरीर तथा मन के ऊपर सुप्त आत्मा है, जो यदि शरीर में न रहे तो सारे शारीरिक तथा मानसिक स्वार्थ व्यर्थ एवं शून्य हो जाँय। किन्तु कम बुद्धिमान लोगों को आत्मा की आवश्यकताओं की कोई जानकारी नहीं होती।

चूँकि मूर्ख लोगों को न तो आत्मा की कोई जानकारी होती है और न इसकी ही कि वह शरीर तथा मन के विचार-क्षेत्र से किस तरह परे है, फलस्वरूप वे अपनी-अपनी वृत्तियों से संतुष्ट नहीं रहते। यहाँ पर आत्म-संतुष्टि का प्रश्न उठाया गया है। आत्मा स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन से परे है। वह शरीर तथा मन का एक सशक्त सक्रिय तत्त्व है। सुप्त आत्मा की आवश्यकता को जाने बिना केवल शरीर तथा मन को तुष्ट करके कोई सुखी नहीं रह सकता। शरीर तथा मन तो आत्मा के व्यर्थ के बाह्य आवरण मात्र हैं। आत्मा की आवश्यकताएँ पूरी होनी ही चाहिए। केवल पंछी के पिंजड़े की सफाई करके पंछी को प्रसन्न नहीं किया जा सकता। मनुष्य को इस पंछी की खुद की आवश्यकताएँ जाननी चाहिए।

आत्मा की आवश्यकता यह है कि वह भौतिक बन्धन के संकुचित क्षेत्र से बाहर निकलना चाहता है और पूर्ण स्वतन्त्रता की अपनी इच्छा को पूरा करना चाहता है। वह इस विशालतर ब्रह्माण्ड की आच्छादित दीवालों के बाहर जाना चाहता है। वह स्वतन्त्र प्रकाश तथा आत्मा का दर्शन करना चाहता है। उसे पूरी स्वतन्त्रता तब प्राप्त होती है, जब वह पूर्ण आत्मा, भगवान्, को मिलता है। प्रत्येक प्राणी में ईश्वर के प्रति प्रसुप्त स्नेह रहता है; आध्यात्मिक जीवन का प्राकट्य स्थूल शरीर तथा मन के माध्यम से स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ के प्रति विकृत प्रेम के रूप में होता है। अतएव हमें उन वृत्तियों (धर्म) में लगना होता है, जिनसे हमारी दैवी चेतना जगे। ऐसा परमेश्वर की दिव्य लीलाओं के श्रवण एवं कीर्तन द्वारा ही सम्भव है और ऐसी कोई भी वृत्ति जो मनुष्य को परमेश्वर के दिव्य सन्देश का श्रवण तथा कीर्तन करने में अनुरक्त नहीं करती है, यहाँ पर ऐसी वृत्ति को समय का अपव्यय बताया गया है। ऐसा इसलिए है कि अन्य वृत्तियाँ (चाहे वे

किसी भी 'वाद' के रूप में हों) आत्मा को मुक्ति नहीं दिला सकतीं। यहाँ तक कि मोक्षकामियों के कर्म भी व्यर्थ माने जाते हैं, क्योंकि वे समस्त स्वतन्त्रताओं के मूल स्रोत को नहीं जान पाते। निपट भौतिकतावादी व्यावहारिक रूप से देख सकता है कि उसका भौतिक लाभ काल तथा स्थल से बँधा है, चाहे वह इस लोक में हो या अन्यत्र। यदि वह स्वर्गलोक में भी चला जाये, तो उसकी लालायित आत्मा को वहाँ भी स्थायी वास नहीं मिलेगा। इस लालायित आत्मा को पूर्ण भक्ति की पूर्ण वैज्ञानिक विधि द्वारा तृष्ट किया जाना चाहिए।

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।

नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—वृत्ति का; हि—निश्चय ही; आपवर्ग्यस्य—अन्तिम मोक्ष का; न—नहीं; अर्थः—अन्त, लक्ष्य; अर्थाय—भौतिक लाभ के लिए; उपकल्पते—साधन के हेतु; न—न तो; अर्थस्य—भौतिक लाभ का; धर्म-एक-अन्तस्य—धर्म में लगे हुए के लिए; कामः—इन्द्रियतृप्ति के; लाभाय—लाभ हेतु; हि—सही सही; स्मृतः—ऋषियों द्वारा बताया गया है।

समस्त वृत्तिपरक कार्य निश्चय ही परम मोक्ष के निमित्त होते हैं। उन्हें कभी भौतिक लाभ के लिए सम्पन्न नहीं किया जाना चाहिए। इससे भी आगे, ऋषियों के अनुसार, जो लोग परम वृत्ति (धर्म) में लगे हैं, उन्हें चाहिए कि इन्द्रियतृप्ति के संवर्धन हेतु भौतिक लाभ का उपयोग कदापि नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : हम पहले ही बता चुके हैं कि पूर्ण ज्ञान तथा भौतिक अस्तित्व से विरक्ति भगवान् की शुद्ध भक्तिमय सेवा के पीछे-पीछे स्वतः आ जाते हैं। किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जो मानते हैं कि धर्म सहित समस्त प्रकार की वृत्तियाँ, भौतिक लाभ के निमित्त हैं। संसार के किसी भी भाग में किसी भी साधारण व्यक्ति की सामान्य प्रवृत्ति यही होती है कि धार्मिक या अन्य वृत्ति के बदले कोई न कोई भौतिक लाभ प्राप्त हो। यहाँ तक कि वैदिक साहित्य में भी, समस्त धार्मिक कृत्यों के लिए भौतिक लाभ का प्रलोभन दिया गया है और अधिकांश लोग ऐसे धार्मिकता के प्रलोभनों अथवा आशीर्वादों के प्रति आकृष्ट होते हैं। तो फिर ऐसे तथाकथित धार्मिक लोग भौतिक लाभों के प्रति क्यों आकृष्ट होते हैं? क्योंकि भौतिक लाभ से इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है और

इच्छाओं की पूर्ति से इन्द्रियतृप्ति होती है। वृत्तियों के इस चक्र में तथाकथित धार्मिकता भी आती है, जिसके बाद भौतिक लाभ और भौतिक लाभ के बाद इच्छापूर्ति होती है। इन्द्रियतृप्ति पूरी तरह से व्यस्त समस्त प्रकार के व्यक्तियों का सामान्य मार्ग है। किन्तु *श्रीमद्भागवत* के निर्णय अनुसार, इस श्लोक में सूत गोस्वामी के कथन द्वारा इसका निषेध किया गया है।

मनुष्य को चाहिए कि केवल भौतिक लाभ के लिए ही कोई वृत्ति न अपनाये। न ही भौतिक लाभ का उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए किया जाय। भौतिक लाभ का सदुपयोग किस प्रकार किया जा सकता है, इसका वर्णन आगे हुआ है।

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।

जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कामस्य—इच्छाओं का; न—नहीं; इन्द्रिय—इन्द्रियों की; प्रीतिः—तुष्टि; लाभः—लाभ; जीवेत—आत्मसंरक्षण; यावता—जितना; जीवस्य—जीव का; तत्त्व—परम सत्य की; जिज्ञासा—पूछताछ, उत्कंठा; न—नहीं; अर्थः—अन्त, लक्ष्य; यः च इह—अन्य जो भी; कर्मभिः—वृत्तियों के द्वारा।

जीवन की इच्छाएँ इन्द्रियतृप्ति की ओर लक्षित नहीं होनी चाहिए। मनुष्य को केवल स्वस्थ जीवन की या आत्म-संरक्षण की कामना करनी चाहिए, क्योंकि मानव तो परम सत्य के विषय में जिज्ञासा करने के निमित्त बना है। मनुष्य की वृत्तियों का इसके अतिरिक्त, अन्य कोई लक्ष्य नहीं होना चाहिए।

तात्पर्य : पूर्ण रूप से मोहग्रस्त भौतिक सभ्यता गलत तरीके से इन्द्रियतृप्ति की इच्छापूर्ति की दिशा में अग्रसर है। ऐसी सभ्यता में, जीवन के सभी क्षेत्रों में, इन्द्रियतृप्ति ही चरम लक्ष्य होता है। चाहे राजनीति हो या कि समाज सेवा, परोपकार, परहितवाद या धर्म, यहाँ तक कि मोक्ष में भी वही इन्द्रियतृप्ति के रंग की प्रधानता बढ़ती ही जा रही है। राजनीतिक क्षेत्र में लोगों के नेता अपनी-अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए परस्पर झगड़ते हैं। मतदाता भी नेताओं को तभी मानते हैं, जब वे उनकी इन्द्रियतृप्ति कराने का वचन देते हैं। जब मतदाता अपनी इन्द्रियतृप्ति में असन्तुष्ट हो जाते हैं, तब वे नेता को पदच्युत करा देते हैं। नेताओं द्वारा मतदाताओं की इन्द्रियों की तुष्टि न करके

उन्हें सदैव निराश करना पड़ता है। अन्य क्षेत्रों में भी यह लागू होता है; कोई भी जीवन की समस्याओं के प्रति गम्भीर नहीं है। यहाँ तक कि परम सत्य से तदाकार होने के इच्छुक पथगामी (मुमुक्षु) भी इन्द्रियतृप्ति के लिए आध्यात्मिक हत्या करने तक को उद्यत रहते हैं। किन्तु *भागवत* का कथन है कि मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं जीना चाहिए। इन्द्रियों की तुष्टि वहीं तक की जाय, जहाँ तक आत्म-संरक्षण हेतु आवश्यकता हो, इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं। चूँकि शरीर इन्द्रियों से बना है और ये इन्द्रियाँ कुछ न कुछ तुष्टि चाहती हैं, अतः ऐसी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए कुछ विधि-विधान बनाये गये हैं। किन्तु इन्द्रियाँ अनियन्त्रित भोग के लिए नहीं हैं। उदाहरणार्थ, विवाह यानी स्त्री तथा पुरुष की युति सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक है, किन्तु यह इन्द्रिय-भोग के लिए नहीं होता। स्वेच्छ निरोध के अभाव में परिवार नियोजन के लिए प्रचार करना पड़ता है, किन्तु मूर्ख लोग यह नहीं जानते हैं कि परम सत्य की खोज में लगते ही स्वतः परिवार नियोजन हो जाता है। परम सत्य की खोज करने वाले कभी भी अनावश्यक इन्द्रिय-तृप्ति के प्रति आकृष्ट नहीं होते, क्योंकि परम सत्य की खोज के कार्य में वे पूरी तरह व्यस्त रहते हैं। अतएव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परम सत्य की खोज को ही चरम लक्ष्य बनाना चाहिए। इससे मनुष्य सुखी होगा क्योंकि वह तरह-तरह की इन्द्रियतृप्ति में कम लिप्त होगा। और वह परम सत्य क्या है, इसकी व्याख्या आगे की गई है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

वदन्ति—वे कहते हैं; तत्—वह; तत्त्व-विदः—विद्वान लोग; तत्त्वम्—परम सत्य को; यत्—जो; ज्ञानम्—ज्ञान; अद्वयम्—अद्वैत; ब्रह्म इति—ब्रह्म नाम से जाना जाने वाला; परमात्मा इति—परमात्मा नाम से जाना जाने वाला; भगवान् इति—भगवान् नाम से जाना जाने वाला; शब्द्यते—कहलाने वाले हैं।

परम सत्य को जानने वाले विद्वान अध्यात्मवादी (तत्त्वविद) इस अद्वय तत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् के नाम से पुकारते हैं।

तात्पर्य : परम सत्य ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों हैं और इनमें कोई गुणात्मक भेद नहीं है। अतः ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् गुणात्मक रूप से एक ही हैं। इसी को उपनिषदों के जिज्ञासु निर्विशेष ब्रह्म के रूप में, हिरण्यगर्भ या योगीजन अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में तथा भक्तगण भगवान् के रूप में अनुभव करते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् अर्थात् परमेश्वर का स्वरूप परम सत्य का अन्तिम शब्द है। परमात्मा भगवान् का आंशिक स्वरूप है और निर्विशेष ब्रह्म भगवान् का वैसा ही तेज है, जैसे कि सूर्य की किरणें सूर्यदेव के लिए हैं। कभी-कभी उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं के अल्पज्ञ जिज्ञासु अपनी-अपनी अनुभूति के पक्ष में तर्क करते हैं, किन्तु जो लोग परम सत्य के वास्तविक दृष्टा हैं, वे अच्छी प्रकार जानते हैं कि एक ही परम सत्य के ये तीन लक्षण भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न दिखते हैं।

जैसाकि *भागवत* के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में कहा गया है, परम सत्य परम-पूर्ण, सर्वज्ञ तथा सापेक्षता के मोह से सर्वथा मुक्त हैं। इस सापेक्ष जगत में ज्ञाता ज्ञेय से भिन्न होता है, किन्तु परम सत्य में ज्ञाता और ज्ञेय एक ही होते हैं। सापेक्ष जगत में ज्ञाता जीवंत आत्मा या परा शक्ति है, जबकि ज्ञेय निष्क्रिय पदार्थ या अपरा शक्ति के रूप में होता है। अतः यहाँ परा तथा अपरा शक्ति का द्वैत है, किन्तु निरपेक्ष जगत में ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों एक ही परा शक्ति के होते हैं। परम शक्तिमान की तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं होता, लेकिन शक्तियों की गुणवत्ता में अन्तर होता है। परम जगत तथा जीवात्माएँ एक ही पराशक्ति से बने हैं, लेकिन यह भौतिक जगत अपरा शक्ति है। जीव अपरा शक्ति के सम्पर्क में रहने से मोहग्रस्त हो जाता है और यह सोचता है कि वह अपरा शक्ति से सम्बन्धित है। अतः भौतिक जगत में सापेक्षता का भाव है। किन्तु परम पूर्ण में ज्ञाता तथा ज्ञेय में अन्तर नहीं होता और प्रत्येक वस्तु पूर्ण (परम) होती है।

तच्छ्रद्धधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।

पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; श्रद्धधानाः—गम्भीर जिज्ञासु; मुनयः—मुनिगण; ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—वैराग्य; युक्त्या—से समन्वित; पश्यन्ति—देखते हैं; आत्मनि—अपने में; च—तथा; आत्मानम्—परमात्मा को; भक्त्या—भक्ति से; श्रुत—वेद से; गृहीतया—भलीभाँति ग्रहण किया गया।

ज्ञान तथा वैराग्य से समन्वित गम्भीर जिज्ञासु या मुनि, वेदान्त-श्रुति के श्रवण से ग्रहण की हुई भक्ति द्वारा परम सत्य की अनुभूति करता है।

तात्पर्य : भगवान् वासुदेव जो परम सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति के समान हैं, उनकी भक्तिमय सेवा की प्रक्रिया से परम सत्य की अनुभूति होती है। ब्रह्म उनका दिव्य शारीरिक तेज है और परमात्मा उनका आंशिक स्वरूप है। फलतः ब्रह्म या परमात्मा की अनुभूति परम सत्य की आंशिक अनुभूति मात्र है। मनुष्य चार प्रकार के होते हैं—कर्मी, ज्ञानी, योगी तथा भक्त। कर्मी भौतिकतावादी होते हैं, किन्तु शेष तीन अध्यात्मवादी होते हैं। भक्त प्रथम श्रेणी के अध्यात्मवादी होते हैं, जिन्होंने परम पुरुष का साक्षात्कार कर लिया है। दूसरी श्रेणी में वे अध्यात्मवादी आते हैं, जिन्होंने परम पुरुष के पूर्ण अंश का आंशिक साक्षात्कार किया है और तीसरी श्रेणी में वे आते हैं जिन्हें परम पुरुष की दिव्य झाँकी का आभास मात्र होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में कहा गया है, परम पुरुष का साक्षात्कार भक्तिमय सेवा द्वारा किया जाता है, जिसके पीछे पूर्ण ज्ञान तथा भौतिक संगति से वैराग्य सन्निहित रहते हैं। हम पहले ही बता चुके हैं कि भक्तिमय सेवा के बाद ज्ञान तथा भौतिक संगति से वैराग्य आते हैं। चूँकि ब्रह्म तथा परमात्मा की अनुभूति उन परम सत्य की अपूर्ण अनुभूतियाँ हैं, अतः ब्रह्म तथा परमात्मा को प्राप्त करने के साधन अर्थात् ज्ञान तथा योग मार्ग भी परम सत्य की अनुभूति के अपूर्ण साधन हैं। भक्ति ही एकमात्र पूर्ण विधि है जिससे गम्भीर जिज्ञासु को परम सत्य की अनुभूति हो सकती है, क्योंकि भक्ति की नींव पूर्ण ज्ञान तथा भौतिक संग से वैराग्य के ऊपर खड़ी होती है और वेदान्त-श्रुति के श्रवण द्वारा सुदृढ़ होती है। अतः ऐसा नहीं है कि भक्ति अल्पज्ञ अध्यात्मवादियों के निमित्त होती है। भक्तों की तीन श्रेणियाँ हैं—प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय। तृतीय श्रेणी के भक्त या नवदीक्षित भक्त, जो ज्ञानविहीन होते हैं, वे भौतिक संगति से विरक्त नहीं होते। वे तो मन्दिर में अर्चा-विग्रह की पूजा की प्रारम्भिक प्रक्रिया के प्रति ही आकृष्ट होते हैं। ऐसे भक्त भौतिक भक्त कहलाते हैं।

ऐसे भक्त आध्यात्मिक लाभ की अपेक्षा भौतिक लाभ के प्रति अधिक आसक्त रहते हैं। अतः मनुष्य को इस भौतिक भक्ति से उन्नति करके भक्ति की द्वितीय अवस्था प्राप्त करनी होती है। इस द्वितीय अवस्था में भक्त को भक्ति की दिशा में चार तत्त्व दिखाई पड़ते हैं—परम ईश्वर, उनके भक्त, अज्ञानी तथा ईर्ष्यालु। मनुष्य को कम से कम इस द्वितीय श्रेणी के भक्त की अवस्था तक उठना होता है, जिससे वह परम सत्य को जानने का पात्र बन सके।

अतः तृतीय श्रेणी के भक्त को भक्ति सम्बन्धी अनुदेश *भागवत* के प्रामाणिक स्रोतों से प्राप्त करने होते हैं। पहली श्रेणी का *भागवत* सुस्थापित भक्त है और दूसरा है *भागवतम्* जो ईश्वर का सन्देश है। अतः तृतीय श्रेणी के भक्त को भक्ति के उपदेशों की शिक्षा लेने के लिए किसी सच्चे भक्त के पास जाना होता है। ऐसा भक्त कोई व्यवसायी व्यक्ति नहीं होता, जो *भागवत* को व्यापार समझकर अपनी जीविका कमाता हो। ऐसे भक्त को सूत गोस्वामी की तरह शुकदेव गोस्वामी का प्रतिनिधि होना चाहिए और उसे समस्त जनता के चतुर्दिक् कल्याण के लिए भक्ति उपासना-पद्धति का उपदेश करना चाहिए। नवजिज्ञासु भक्त को प्रामाणिक व्यक्तियों से सुनने में तनिक भी रुचि नहीं रहती। ऐसा नवजिज्ञासु भक्त अपनी इन्द्रियतृप्ति के हेतु किसी व्यावसायिक व्यक्ति से सुनने का दिखावा करता है। इस प्रकार के श्रवण तथा कीर्तन से सारा मामला गडबड़ा गया है, अतः इस दोषपूर्ण विधि के प्रति अत्यन्त सतर्क रहने की आवश्यकता है। *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* में निहित भगवान् के दिव्य संदेश निस्सन्देह दिव्य विषय हैं, किन्तु ऐसा होते हुए भी उन्हें किसी व्यावसायिक व्यक्ति से ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह उन्हें उसी प्रकार दूषित कर देता है जिस प्रकार सर्प अपनी जीभ के स्पर्श मात्र से दूध को विषाक्त कर देता है।

अतएव निष्ठावान भक्त को चाहिए कि वह अपनी उन्नति के लिए उपनिषद्, वेदान्त जैसे वैदिक साहित्य को तथा पूर्ववर्ती आचार्यों अथवा गोस्वामियों द्वारा छोड़े गये (संकलित) अन्य साहित्य को सुने। ऐसे साहित्य का श्रवण किये बिना मनुष्य सच्ची उन्नति नहीं कर सकता। बिना श्रवण किये तथा आदेशों का पालन किये बिना भक्ति का प्रदर्शन निरर्थक है और यह भक्ति के पथ में अवरोध जैसा है। अतएव जब तक श्रुति, स्मृति, पुराण या पञ्चरात्र प्रमाणों जैसे सिद्धान्तों

पर भक्ति स्थापित न हो, तब तक भक्ति के ऐसे प्रदर्शन को तत्काल त्याज्य समझना चाहिए। किसी अनधिकृत भक्त को कभी भी शुद्ध भक्त की मान्यता नहीं दी जानी चाहिए। वैदिक साहित्य से ऐसे संदेशों को आत्मसात् करके अपने भीतर अन्तर्यामी परमात्मा को निरंतर देखा जा सकता है। यह समाधि कहलाती है।

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; पुम्भिः—मनुष्य द्वारा; द्विज-श्रेष्ठाः—हे द्विजों में श्रेष्ठ; वर्ण-आश्रम—चार वर्णों तथा जीवन के चार आश्रमों के; विभागशः—विभाजन से; स्वनुष्ठितस्य—अपने कर्तव्यों का; धर्मस्य—वृत्तिपरक; संसिद्धिः—सर्वोच्च सिद्धि; हरि—भगवान् को; तोषणम्—तुष्ट या प्रसन्न करना।

अतः हे द्विजश्रेष्ठ, निष्कर्ष यह निकलता है कि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार अपने कर्तव्यों को पूरा करने से जो परम सिद्धि प्राप्त हो सकती है, वह है भगवान् को प्रसन्न करना।

तात्पर्य : सारे विश्व भर में मानव समाज चार वर्णों तथा चार आश्रमों में विभक्त है। चार वर्ण हैं : बुद्धिमान वर्ग, योद्धा वर्ग, उत्पादक वर्ग तथा श्रमिक वर्ग। ये वर्ण अपने कर्म तथा गुण के अनुसार विभाजित किए गए हैं, जन्म के अनुसार नहीं। फिर जीवन के चार आश्रम भी हैं। इनके नाम हैं : विद्यार्थी जीवन, गृहस्थ जीवन, वानप्रस्थ तथा भक्त जीवन। मानव समाज का परम हित इसी में है कि जीवन इसी तरह ही विभाजित हो, अन्यथा कोई भी सामाजिक संस्था स्वस्थ विकास नहीं कर सकती। इनमें से जीवन के प्रत्येक विभाग का लक्ष्य परम सत्ता भगवान् को प्रसन्न करना है। मानव समाज के इस संस्थागत कार्य को वर्णाश्रम धर्म के रूप में जाना जाता है, जो सुसंस्कृत जीवन के लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। वर्णाश्रम धर्म का निर्माण इसलिए किया गया है कि परम सत्य की अनुभूति हो सके। इसका निर्माण एक विभाग का दूसरे पर कृत्रिम आधिपत्य के लिए नहीं किया गया है। जब इन्द्रियतृप्ति की अत्यधिक आसक्ति के कारण जीवन का लक्ष्य, अर्थात् परम सत्य का साक्षात्कार चूक जाता है, तब जैसाकि पहले कहा जा चुका है, स्वार्थी लोगों द्वारा वर्णाश्रम धर्म का उपयोग कमजोर वर्ग पर कृत्रिम आधिपत्य दिखाने के लिए किया जाता है।

कलियुग में अर्थात् कलहप्रधान युग में, यह कृत्रिम आधिपत्य पहले से चालू है, किन्तु जो लोग सयाने हैं वे जानते हैं कि वर्ण तथा आश्रम विभाग सहज सामाजिक व्यवहार तथा उच्च विचारयुक्त आत्म-साक्षात्कार के लिए है, अन्य किसी प्रयोजन के लिए नहीं।

यहाँ पर *भागवत* का कथन है कि जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य या वर्णाश्रम धर्म की चरम सिद्धि यह है कि हम सब मिलकर परमेश्वर को प्रसन्न रखें। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.१३) में भी हुई है।

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; एकेन—एक, एकाग्र; मनसा—मन के ध्यान द्वारा; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—भक्तों के; पतिः—रक्षक; श्रोतव्यः—सुनने योग्य; कीर्तितव्यः—गुणगान के योग्य; च—तथा; ध्येयः—स्मरण करने योग्य; पूज्यः—पूजने के योग्य, पूजनीय; च—तथा; नित्यदा—निरन्तर।

अतएव मनुष्य को एकाग्रचित से उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में निरन्तर श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा पूजन करना चाहिए, जो भक्तों के रक्षक हैं।

तात्पर्य : यदि परम सत्य का साक्षात्कार ही जीवन का चरम लक्ष्य है, तो इसे हर सम्भव साधन से अवश्य करना चाहिए। उपर्युक्त वर्णों तथा आश्रमों में से हर एक में गुणगान, श्रवण, स्मरण तथा पूजन—ये चार विधियाँ सामान्य वृत्तियाँ हैं। इन जीवन-सिद्धान्तों के बिना कोई रह नहीं सकता। जीवों के कार्यकलाप जीवन के इन्हीं चार विभिन्न सिद्धान्तों में व्यस्त रहने में निहित हैं। विशेष रूप से आधुनिक समाज में तो मुख्यतया सारे कार्यक्रम श्रवण तथा कीर्तन पर ही मुख्यतया आधारित हैं। कोई भी व्यक्ति, चाहे उसकी सामाजिक हैसियत कैसी भी क्यों न हो, वह कुछ ही काल में विख्यात हो जाता है यदि दैनिक समाचारपत्र उसका गुणगान करते हों, चाहे ये गुणगान झूठे हों या सच। कभी-कभी किसी दल विशेष के राजनीतिक नेताओं का विज्ञापन समाचार पत्रों में प्रसारित होता है और ऐसे गुणगान की विधि से एक नगण्य व्यक्ति भी अल्प समय में महत्त्वपूर्ण बन जाता है। किन्तु अयोग्य व्यक्ति के ऐसे झूठे प्रचार से न तो उस व्यक्ति का

लाभ होता है, न समाज का। भले ही ऐसे प्रचार की क्षणिक प्रतिक्रिया हो ले, किन्तु इसका प्रभाव स्थायी नहीं होता। अतः ऐसे कार्य समय का अपव्यय है। गुणगान तो उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का करना चाहिए, जिन्होंने हमारे सामने प्रकट होने वाली प्रत्येक वस्तु की सृष्टि की। हम इसकी विस्तृत व्याख्या भागवत के जन्माद्यस्य वाले प्रथम श्लोक के आरम्भ में ही कर चुके हैं। अन्यो का गुणगान करने या अन्यो के विषय में सुनने की प्रवृत्ति को गुणगान के वास्तविक लक्ष्य परमेश्वर की ओर मोड़ना चाहिए। इससे सुख उपजेगा।

यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।

छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; अनुध्या—स्मृति रूपी; असिना—तलवार से; युक्ताः—युक्त, समन्वित; कर्म—कर्म की; ग्रन्थि—गाँठ; निबन्धनम्—बँधी हुई; छिन्दन्ति—काटते हैं; कोविदाः—बुद्धिमान; तस्य—उसका; कः—कौन; न—नहीं; कुर्यात्—करेंगे; कथा—सन्देश, कथाएँ; रतिम्—ध्यान।

हाथ में तलवार लिए बुद्धिमान मनुष्य भगवान् का स्मरण करते हुए कर्म की बँधी हुई ग्रंथि को काट देते हैं। अतएव ऐसा कौन होगा जो उनके सन्देश की ओर ध्यान नहीं देगा ?

तात्पर्य : भौतिक तत्त्वों के सम्पर्क में आने से आध्यात्मिक स्फुलिंग एक ग्रंथि उत्पन्न कर देती है। अतः जो कर्म के घात-प्रतिघात से मुक्त होने का इच्छुक होता है, उसे इस ग्रंथि को काटना होता है। मुक्ति का अर्थ है, कर्म के चक्र से छूटना। जो व्यक्ति निरन्तर भगवान् की दिव्य लीलाओं का स्मरण करता है, उसे स्वतः यह मुक्ति मिल जाती है। इसका कारण यह है कि परम भगवान् की सारी लीलाएँ भौतिक शक्ति के गुणों से परे होती हैं। ये सारी दिव्य लीलाएँ परम सर्वा-कर्षक होती हैं, और इस प्रकार भगवान् के आध्यात्मिक कार्य का सतत सान्निध्य बद्ध जीव को क्रमशः आध्यात्मिक बना देता है तथा सान्निध्य से बद्धजीव क्रमशः आध्यात्मिक बना देता है तथा अन्ततः उसकी भौतिक बन्धन की ग्रन्थि विच्छिन्न हो जाती है।

अतएव भवबन्धन से मुक्ति मिलना भक्ति का गौण फल है। केवल आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति से ही मुक्ति निश्चित नहीं होती। ऐसे ज्ञान के ऊपर भक्ति का लेप चढ़ाना जरूरी है, जिससे

अन्ततः भक्ति की ही प्रधानता बनी रहे। तभी मुक्ति सम्भव होती है। यहाँ तक कि सकाम कर्मियों के कर्म भी, यदि वे भक्ति से लेपित हों, तो उन्हें मुक्ति की ओर ले जा सकते हैं। भक्ति से लेपित कर्म *कर्मयोग* कहलाता है। इसी प्रकार भक्ति से लेपित अनुभव-गम्य ज्ञान *ज्ञानयोग* कहलाता है। किन्तु शुद्ध भक्तियोग ऐसे कर्म तथा ज्ञान से स्वतन्त्र है, क्योंकि यह अकेले, न केवल बद्ध जीवन से मोक्ष दिलाने वाला है, अपितु भगवान् की प्रेमाभक्ति भी प्रदान करने वाला है।

अतएव किसी भी ऐसे विवेकशील व्यक्ति को जो मध्यम स्तर के अल्पज्ञ व्यक्ति से ऊपर है, उसे भगवान् के बारे में श्रवण करके, उनका गुणगान करके, उनका ध्यान तथा पूजन करके निरन्तर उनका स्मरण करना चाहिए। भक्ति की यही सम्यक् विधि है। वृन्दावन के गोस्वामी, जिन्हें श्री चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति उपासना पद्धति का उपदेश देने के लिए अधिकृत किया था, इस नियम का दृढ़ता से पालन करते रहे और उन्होंने हमारे लाभ के लिए दिव्य विज्ञान का प्रभूत साहित्य तैयार किया। उन्होंने विभिन्न वर्णों तथा आश्रमों के लोगों के लिए *श्रीमद्भागवत* तथा ऐसे ही अन्य प्रामाणिक शास्त्रों के आधार पर विविध मार्ग बनाये हैं।

शुश्रूषोः श्रद्धधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।

स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

शुश्रूषोः— श्रवण में व्यस्त; श्रद्धधानस्य— श्रद्धापूर्वक; वासुदेव— वासुदेव की; कथा— संदेश, कथा में; रुचिः— लगाव; स्यात्— सम्भव बन जाता है; महत्-सेवया— शुद्ध भक्तों की सेवा करके; विप्राः— हे द्विजगण; पुण्य-तीर्थ— समस्त पापों से शुद्ध हुआ की; निषेवणात्— सेवा से।

हे द्विजो, जो भक्त समस्त पापों से पूर्ण रूप से मुक्त हैं, उनकी सेवा करने से महान सेवा हो जाती है। ऐसी सेवा से वासुदेव की कथा सुनने के प्रति लगाव उत्पन्न होता है।

तात्पर्य : जीव के बद्ध जीवन का कारण भगवान् के विरुद्ध विद्रोह है। कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो देव कहलाते हैं और कुछ ऐसे हैं जो असुर कहलाते हैं, क्योंकि ये परमेश्वर की सत्ता के विरुद्ध रहते हैं। *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय में असुरों का विशद वर्णन किया गया है, जिसमें कहा गया है कि उन्हें जन्म-जन्मान्तर अज्ञान की निम्नतर अवस्थाओं में रखा जाता है। अतः उन्हें

पशु योनियों में रहना होता है, जिससे उन्हें परम सत्य, भगवान् की कोई जानकारी नहीं रहती। ये असुर भगवान् की इच्छानुसार उनके मुक्त सेवकों की कृपा से विभिन्न देशों में धीरे-धीरे ईश्वर-चेतना में परिशोधित किये जाते हैं। ईश्वर के ऐसे भक्त भगवान् के अन्तरंग पार्षद होते हैं और जब वे समाज को ईश्वरविहीन होने के खतरे से बचाने के लिए आते हैं, तो वे ईश्वर के शक्तिशाली अवतार, उनके पुत्र, उनके दास या उनके पार्षद कहलाते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी मिथ्या तौर पर अपने को ईश्वर नहीं कहता। यह तो असुरों द्वारा घोषित निन्दा है और ऐसे असुरों के दानवी अनुयायी भी इन बहुरूपियों को ईश्वर या उनका अवतार मान लेते हैं। प्रामाणिक शास्त्रों में भगवान् के अवतार के विषय में निश्चित जानकारी मिलती है। जब तक प्रामाणिक शास्त्रों से पुष्टि न हो ले, तब तक किसी को ईश्वर या ईश्वर का अवतार नहीं मानना चाहिए।

वास्तव में जो भक्त भगवद्धाम जाने के इच्छुक हैं, उन्हें चाहिए कि भगवान् के सेवकों को भगवान् के रूप में मानें। भगवान् के ऐसे दास महात्मा या तीर्थ कहलाते हैं और वे विशिष्ट देश-काल के अनुसार उपदेश देते हैं। भगवान् के सेवक लोगों को भगवद्भक्त बनने के लिए प्रेरित करते हैं। वे कभी यह सहन नहीं कर सकते कि कोई उन्हें ईश्वर कहे। यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु प्रामाणिक शास्त्रों के निर्देशानुसार साक्षात् भगवान् थे, किन्तु वे भक्त की तरह बने रहे। जो लोग उन्हें ईश्वर रूप में जानते थे, वे उन्हें ईश्वर कहकर पुकारते थे, किन्तु तब वे अपने कानों को हाथों से बन्द करके भगवान् विष्णु के नाम का कीर्तन करने लगते थे। वे स्वयं को ईश्वर कहलवाने का घोर विरोध करते थे, यद्यपि वे निस्संदेह साक्षात् भगवान् थे। भगवान् हमें उन धूर्तों से आगाह करने के लिये ऐसा आचरण करते हैं, जो अपने को ईश्वर कहलवाते हैं।

ईश्वर के दास ईश्वरीय चेतना का प्रसार करने के लिए आते हैं। बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि वे उनके साथ हर तरह से सहयोग करें। भगवान् अपनी प्रत्यक्ष सेवा की अपेक्षा अपने दास की सेवा किये जाने से अधिक प्रसन्न होते हैं। भगवान् तब अत्यधिक प्रसन्न होते हैं, जब वे यह देखते हैं कि उनके भक्तों का समुचित आदर हो रहा है, क्योंकि वे भगवान् की सेवा के लिए सभी प्रकार के कष्ट उठाते हैं, अतः वे उन्हें अत्यन्त प्रिय होते हैं। *भगवद्गीता* (१८.६९) में भगवान्

घोषित करते हैं कि उन्हें उस भक्त के समान अन्य कोई प्रिय नहीं है, जो उनकी महिमा का प्रचार करते हुए अपना सर्वस्व संकट में डालता है। भगवान् के सेवकों की सेवा करके कोई भी धीरे-धीरे उन सेवकों के गुणों को प्राप्त करता है और इस प्रकार वह भगवान् की महिमा सुनने के योग्य बन जाता है। भगवद्धाम में प्रवेश पाने के लिए भक्त की पहली योग्यता यह है कि वह भगवान् के विषय में सुनने को उत्सुक हो।

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।

हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

शृण्वताम्—जिन्होंने कथा सुनने की रुचि उत्पन्न कर ली है; स्व-कथाः—अपनी वाणी; कृष्णः—भगवान्; पुण्य—पावन; श्रवण—सुनना; कीर्तनः—कीर्तन करना; हृदि अन्तः स्थः—अपने हृदय के भीतर; हि—निश्चय ही; अभद्राणि—पदार्थ को भोगने की इच्छा; विधुनोति—स्वच्छ करता है, विमल बनाता है; सुहृत्—उपकारी; सताम्—सत्यनिष्ठ के।

प्रत्येक हृदय में परमात्मास्वरूप स्थित तथा सत्यनिष्ठ भक्तों के हितकारी भगवान् श्रीकृष्ण, उस भक्त के हृदय से भौतिक भोग की इच्छा को हटाते हैं जिसने उनकी कथाओं को सुनने में रुचि उत्पन्न कर ली है, क्योंकि ये कथाएँ ठीक से सुनने तथा कहने पर अत्यन्त पुण्यप्रद हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण की कथाएँ उनसे अभिन्न हैं। अतएव जब भी अपराध-रहित होकर भगवान् के बारे में श्रवण तथा उनका गुणगान किया जाता है, तो यह समझना चाहिए कि वहाँ पर भगवान् कृष्ण दिव्य शब्द के रूप में उपस्थित हैं जो साक्षात् भगवान् के समान ही शक्तिमान है। श्री चैतन्य महाप्रभु अपने शिक्षाष्टक में स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि भगवान् के पवित्र नाम में भगवान् की सारी शक्तियाँ निहित हैं और उन्होंने अपने असंख्य नामों को वही शक्ति प्रदान की है। इसके लिए कोई समयावधि निश्चित नहीं है। कोई भी व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार ध्यानपूर्वक तथा आदरपूर्वक पवित्र नाम का जप कर सकता है। भगवान् हम पर इतने दयालु हैं कि वे हमारे समक्ष दिव्य शब्द के रूप में साक्षात् उपस्थित हो सकते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश हममें भगवान् के नाम और उनकी लीलाओं को सुनने तथा उनका महिमा-गान करने

के प्रति कोई रुचि नहीं है। हम पहले ही पवित्र शब्द के श्रवण तथा कीर्तन के प्रति रुचि उत्पन्न करने के विषय में बता चुके हैं। इसे भगवान् के शुद्ध भक्त की सेवा करके प्राप्त किया जा सकता है।

भगवान् अपने भक्तों के साथ परस्पर आदान-प्रदान करते हैं। जब भगवान् देखते हैं कि भक्त उनकी सेवा में प्रवेश पाने के लिए पूर्ण निष्ठा से तत्पर है और फलस्वरूप उनके विषय में सुनने का इच्छुक है, तो वे भक्त के भीतर से इस तरह से कार्य करते हैं कि भक्त उनके पास सरलता से वापस चला जाये। भगवान् हमारी अपेक्षा अधिक उत्सुक हैं कि हम उनके पास वापस जाएँ। किन्तु हममें से अधिकांश भगवान् के धाम में वापस नहीं जाना चाहते। केवल कुछ ही ऐसे हैं जो भगवान् के पास वापस जाना चाहते हैं। किन्तु जो कोई भी भगवद्धाम में वापस जाना चाहता है, श्रीकृष्ण सब तरह से उसकी सहायता करते हैं।

कोई तब तक भगवान् के धाम में प्रविष्ट नहीं हो सकता, जब तक कि वह समस्त प्रकार के पापों से मुक्त न हो जाए। भौतिक पाप हमारे द्वारा भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करने की इच्छाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। ऐसी इच्छाओं से पिंड छुड़ा पाना बहुत कठिन है। भक्त के लिए भगवद्धाम वापस जाने के मार्ग में कामिनी तथा कंचन मुख्य बाधाएँ हैं। भक्तिपथ के अनेक दिग्गज इन प्रलोभनों के शिकार हो जाते हैं और इस प्रकार से मुक्ति पथ से लौट आते हैं, किन्तु जब स्वयं भगवान् मनुष्य की सहायता करते हैं, तो भगवत्कृपा से सारी प्रक्रिया सुगम बन जाती है।

कामिनी तथा कंचन के संसर्ग में आकर अशान्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि प्रत्येक जीव लम्बे समय से—व्यावहारिक दृष्टि से कहें तो अनादि काल से ऐसी वस्तुओं से जुड़ा रहा है और इस बेगानी प्रकृति से छुटकारा पाने में समय लगता है। किन्तु यदि कोई भगवान् के यश का श्रवण करने में जुट जाता है, तो धीरे-धीरे उसे अपनी असली स्थिति की अनुभूति हो जाती है। भगवत्कृपा से ऐसे भक्त को प्रचुर शक्ति प्राप्त होती है, जिससे वह विघ्नों से अपनी रक्षा कर सकता है और सारे अनर्थ उसके मस्तिष्क से क्रमशः दूर हो जाते हैं।

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
 भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नष्ट—समाप्त; प्रायेषु—प्रायः शून्य; अभद्रेषु—समस्त अमंगलों से; नित्यम्—नियमित रूप से; भागवत—श्रीमद्भागवत या शुद्ध भक्त की; सेवया—सेवा द्वारा; भगवति—भगवान् में; उत्तम—दिव्य; श्लोके—स्तुतियाँ; भक्तिः—प्रेमाभक्ति, सेवा; भवति—(उत्पन्न) होती है; नैष्ठिकी—अटल, अविचल ।

भागवत की कक्षाओं में नियमित उपस्थित रहने तथा शुद्ध भक्त की सेवा करने से हृदय के सारे दुख लगभग पूर्णतः विनष्ट हो जाते हैं और उन पुण्यश्लोक भगवान् में अटल प्रेमाभक्ति स्थापित हो जाती है, जिनकी प्रशंसा दिव्य गीतों से की जाती है ।

तात्पर्य : यहाँ पर हृदय से उन अमंगलकारी वस्तुओं को निकालने का उपचार दिया गया है, जो आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अवरोधरूप हैं । यह उपचार है भागवतों की संगति करना । भागवत दो प्रकार के होते हैं—एक तो ग्रंथ-भागवत और दूसरे भक्त-भागवत । ये दोनों ही भागवत कारगर औषधियाँ हैं और इनमें से कोई एक या दोनों ही अवरोधों को हटाने वाले हैं । भक्त-भागवत ग्रन्थ-भागवत के ही समान है, क्योंकि भक्त-भागवत ग्रन्थ-भागवत के अनुसार ही जीवन-यापन करता है और ग्रन्थ-भागवत तो भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों अर्थात् भागवतों के ज्ञान से पूर्ण है ही । भागवत ग्रन्थ तथा भागवत व्यक्ति अभिन्न हैं ।

भक्त-भागवत भगवान् का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि है । अतः भक्त-भागवत भक्त को प्रसन्न करने से ग्रन्थ-भागवत ग्रन्थ का लाभ उठाया जा सकता है । मानवीय तर्क यह नहीं समझ पाता कि किस प्रकार भक्त-भागवत या ग्रन्थ-भागवत की सेवा द्वारा कोई भक्ति के पथ पर अग्रसर होता है । किन्तु ये तथ्य हैं जिनकी व्याख्या श्रील नारददेव द्वारा की गई है, जो अपने पूर्वजन्म में एक दासी के पुत्र थे । दासी ऋषियों की टहल करती थी और इस तरह वह भी उनके सम्पर्क में आया । केवल उनके सम्पर्क से तथा उनका जूठन खाकर यह दासी-पुत्र श्रील नारददेव नामक महान भक्त तथा एक महान व्यक्तित्व बन सका । भागवतों की संगति के ऐसे चमत्कारी प्रभाव होते हैं । इन प्रभावों को व्यावहारिक रूप से समझने के लिए यह ध्यान देना आवश्यक है कि भागवतों की

ऐसी निष्कलुष संगति से दिव्य ज्ञान अवश्यमेव बड़ी आसानी से प्राप्त होगा, जिससे मनुष्य भगवान् की भक्तिमय सेवा में स्थिर हो जाता है। वह भागवतों के मार्गदर्शन में भक्ति में जितनी ही प्रगति करता है, उतना ही वह भगवान् की दिव्य प्रेममय सेवा में स्थिर होता जाता है। अतएव ग्रन्थ-भागवत की कथाओं को भक्त-भागवत से ही प्राप्त करना जरूरी है और इस प्रकार इन दोनों भागवतों के संयोग से नवदीक्षित भक्त की प्रगति होती रहेगी।

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।

चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; रजः—रजोगुण में; तमः—तमो गुण; भावाः—परिस्थिति; काम—काम तथा इच्छा; लोभ—लालसा; आदयः—आदि आदि; च—तथा; ये—जो भी हैं; चेतः—मन; एतैः—इनसे; अनाविद्धम्—प्रभावित हुए बिना; स्थितम्—स्थित होकर; सत्त्वे—सतोगुण में; प्रसीदति—परम प्रसन्न होता है।

ज्योंही हृदय में अटल प्रेमा भक्ति स्थापित हो जाती है, प्रकृति के रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव जैसे काम, इच्छा तथा लोभ हृदय से लुप्त हो जाते हैं। तब भक्त सत्त्वगुण में स्थित होकर परम सुखी हो जाता है।

तात्पर्य : अपनी सामान्य संवैधानिक स्थिति में जीव आध्यात्मिक आनन्द में पूर्ण रूप से तुष्ट रहता है। यह स्थिति ब्रह्मभूत या आत्मानन्दी अर्थात् आत्मतुष्टि की स्थिति कहलाती है। यह आत्मतुष्टि किसी निष्क्रिय मूर्ख की तुष्टि जैसी नहीं होती। निष्क्रिय मूर्ख अज्ञानावस्था में रहता है, किन्तु आत्मतुष्टि आत्मानन्दी इस भौतिक जगत से परे होता है। सिद्धि की यह अवस्था अटल भक्ति में स्थित होते ही प्राप्त हो जाती है। भक्तिमय सेवा कोई निष्क्रियता नहीं, अपितु आत्मा की अनन्य सक्रियता है।

आत्मा की यह सक्रियता पदार्थ के संसर्ग से अपमिश्रित (दूषित) हो जाती है। फलतः काम, इच्छा, लोभ, निष्क्रियता, मूर्खता तथा निद्रा के रूप में रुग्ण कार्यकलापों का उदय होता है। भक्तिमय सेवा का प्रभाव रजोगुण तथा तमोगुण के इन प्रभावों के पूर्ण निराकरण होने पर प्रकट होता है। तब भक्त तुरन्त ही सत्त्वगुण में स्थित हो जाता है और वह उन्नति करता हुआ वासुदेव के

पद या शुद्ध-सत्त्व के पद की ओर उठने को अग्रसर होता है। केवल इस शुद्ध-सत्त्व की अवस्था में कोई व्यक्ति भगवान् के शुद्ध प्रेम के कारण अपने समक्ष कृष्ण को सदा देख सकता है।

भक्त सदैव शुद्ध-सत्त्व में रहता है, अतः वह किसी को हानि नहीं पहुँचाता। किन्तु एक अभक्त, चाहे कितना ही शिक्षित क्यों न हो, सदैव हानिप्रद होता है। भक्त न तो मूर्ख होता है न रजोगुणी। हानि पहुँचाने वाले, मूर्ख तथा रजोगुणी व्यक्ति भगवद्भक्त नहीं बन सकते, भले ही वे अपने बाहरी वेश से अपने आपको भक्त क्यों न प्रदर्शित करें। भक्त में सदैव ईश्वर के सद्गुण पाये जाते हैं। इन गुणों की मात्रा भले ही भिन्न हो, किन्तु गुणता की दृष्टि से भक्त तथा भगवान् एक समान होते हैं।

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।

भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रसन्न—स्फूर्त; मनसः—मन से; भगवत्-भक्ति—भगवान् की भक्ति के; योगतः—सम्पर्क से; भगवत्—भगवान् का; तत्त्व—ज्ञान; विज्ञानम्—वैज्ञानिक; मुक्त—मुक्त हुआ; सङ्गस्य—संगति का; जायते—हो जाता है।

इस प्रकार शुद्ध सत्त्व में स्थित होकर, जिस मनुष्य का मन भगवान् की भक्ति के संसर्ग से प्रसन्न हो चुका होता है उसे समस्त भौतिक संगति से मुक्त होने पर भगवान् का सही वैज्ञानिक ज्ञान (विज्ञान तत्त्व) प्राप्त होता है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (७.३) में कहा गया है कि हजारों सामान्य मनुष्यों में से कोई एक भाग्यशाली होता है, जो जीवन-सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है। अधिकांश लोग रजोगुण तथा तमोगुण से प्रेरित होते हैं और इस प्रकार वे काम, इच्छा, लोभ, अज्ञान तथा निद्रा में सदैव लिप्त रहते हैं। ऐसे अनेक मनुष्य रूपी पशुओं में से कोई एक ऐसा वास्तविक रूप में मनुष्य होता है, जो मानव जीवन की जिम्मेदारी को जानता है और निर्दिष्ट किए गये कर्तव्यों का पालन करते हुए जीवन को पूर्ण बनाने का प्रयास करता है। जीवन में इस प्रकार की सफलता प्राप्त किए हुए हजारों व्यक्तियों में से कोई एक व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में वैज्ञानिक ढंग से जान सकता

है। *भगवद्गीता* (१८.५५) में ही कहा गया है कि श्रीकृष्ण के विज्ञान को केवल *भक्तियोग* की प्रक्रिया के द्वारा जाना जा सकता है।

ठीक इसी बात की उपर्युक्त श्लोक में पुष्टि हुई है। कोई भी सामान्य व्यक्ति, यहाँ तक कि जिसने मानव-जीवन में सफलता प्राप्त कर ली है वह भी, भगवान् के विषय में सही-सही या वैज्ञानिक ढंग से जान नहीं सकता। मानव-जीवन में सिद्धि तभी प्राप्त होती है, जब वह यह समझ लेता है कि वह पदार्थ का प्रतिफल नहीं, अपितु आत्मा है। और ज्योंही वह यह समझ लेता है कि उसे पदार्थ से कुछ लेना-देना नहीं है, त्योंही वह भौतिक लालसा त्याग देता है और आध्यात्मिक जीव के रूप में अनुप्राणित हो जाता है। यह सफलता तभी मिलती है, जब मनुष्य रजोगुण तथा तमोगुण से ऊपर उठ गया हो, या दूसरे शब्दों में, जब वह योग्यता के आधार पर वास्तविक रूप में ब्राह्मण हो। 'ब्राह्मण' शब्द सत्त्व गुण का प्रतीक है। अन्य सारे लोग जो सत्त्व गुण में नहीं हैं, वे या तो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या शूद्रों से भी अधम होते हैं। उत्तम गुणों के कारण ब्राह्मण अवस्था मनुष्य जीवन की सर्वोच्च अवस्था है। अतः जब तक मनुष्य में कम से कम ब्राह्मण के गुण न हों, तब तक वह भक्त नहीं हो सकता। भक्त अपने कर्म के कारण पहले से ब्राह्मण रहता है, किन्तु यह उसकी चरम परिणति नहीं है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, ऐसे ब्राह्मण को वास्तव में दिव्य अवस्था प्राप्त करने के लिए वैष्णव होना चाहिए। शुद्ध वैष्णव मुक्त आत्मा होता है और ब्राह्मण पद से भी ऊपर होता है। भौतिक अवस्था में ब्राह्मण भी बद्धजीव होता है, क्योंकि ब्राह्मण अवस्था में ब्रह्म-बोध तो हो जाता है, किन्तु परमेश्वर के विज्ञान का अभाव रहता है। मनुष्य को ब्राह्मण अवस्था को पार करके *वसुदेव* अवस्था प्राप्त करनी होती है ताकि वह भगवान् कृष्ण को समझ सके। परमेश्वर का विज्ञान (भगवत्तत्त्व) आध्यात्मिकता के स्नातकोत्तर छात्रों के अध्ययन का विषय है। मूर्ख या अल्पज्ञ लोग परमेश्वर को नहीं जान पाते, इसीलिए वे अपनी-अपनी सनक के अनुसार कृष्ण की व्याख्या करते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि ब्राह्मण अवस्था प्राप्त करने पर भी भौतिक गुणों के कल्मष से मुक्त हुए बिना कोई भगवान् के

विज्ञान को नहीं समझ पाता। जब योग्य ब्राह्मण यथार्थ रूप में वैष्णव बन जाता है, तो वह मुक्ति की प्रबुद्धावस्था में यह जान पाता है कि वास्तव में भगवान् क्या हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भिद्यते—भिद जाती है; हृदय—हृदय की; ग्रन्थिः—गाँठें; छिद्यन्ते—खण्ड-खण्ड हो जाते हैं; सर्व—सभी; संशयाः—भ्रम, संदेह; क्षीयन्ते—समाप्त हो जाते हैं; च—तथा; अस्य—उसकी; कर्माणि—सकाम कर्मों की शृंखला; दृष्टे—देखने के पश्चात्; एव—निश्चय ही; आत्मनि—स्वयं आत्मा को; ईश्वरे—प्रधान या स्वामी में।

इस प्रकार हृदय की गाँठ भिद जाती है और सारे सशंय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जब मनुष्य आत्मा को स्वामी के रूप में देखता है, तो सकाम कर्मों की शृंखला समाप्त हो जाती है।

तात्पर्य : भगवान् का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है, उसी के साथ ही साथ अपने आपको भी देखना। जहाँ तक आत्मारूप में जीव की पहचान की बात है, उसके सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ एवं भ्रान्तियाँ हैं। भौतिकतावादी लोग तो आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानते और अनुभवमूलक दार्शनिक आत्मा को बिना स्वरूप वाले निर्विशेष रूप में मानते हैं। किन्तु अध्यात्मवादी इस बात की पुष्टि करते हैं कि आत्मा तथा परमात्मा दो विभिन्न सत्ताएँ हैं, जो गुणवत्ता में एक समान हैं किन्तु परिमाण में भिन्न-भिन्न हैं। बहुत से अन्य सिद्धान्त भी हैं, किन्तु जब भक्तियोग की विधि से श्रीकृष्ण का यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है, तो ये भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ दूर हो जाती हैं। श्रीकृष्ण सूर्य के समान हैं और परम सत्य विषयक भौतिकतावादी तर्क-वितर्क गहनतम अर्धरात्रि के समान हैं। ज्योंही हृदय में कृष्णरूपी सूर्य उदित होता है, त्योंही परम सत्य तथा जीवात्मा सम्बन्धी भौतिक कल्पनाओं का अन्धकार दूर हो जाता है। सूर्य की उपस्थिति में अन्धकार नहीं रह सकता और अज्ञान के अन्धकार में छिपा सापेक्ष सत्य, परमात्मा रूप में सबके हृदय में वास करने वाले कृष्ण की कृपा से स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है।

भगवद्गीता (१०.११) में भगवान् कहते हैं कि अपने शुद्ध भक्तों पर विशेष अनुग्रह करने के लिए भगवान् स्वयं अपने भक्त के हृदय में शुद्ध ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न करके, सारे संशयों के गहन अन्धकार को दूर कर देते हैं। अतएव भगवान् द्वारा भक्त के हृदय को प्रकाशित करने का दायित्व अपने ऊपर लेने के कारण, जो भक्त उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा होता है वह अन्धकार में नहीं रह सकता। उसे परम एवं सापेक्ष सत्य के विषय में सब कुछ ज्ञात होता रहता है। भक्त कभी भी अन्धकार में नहीं रह सकता और चूँकि भगवान् द्वारा उसे प्रकाश प्राप्त होता है, अतएव उसका ज्ञान निश्चय ही पूर्ण होता है। किन्तु जो लोग अपनी खुद की सीमित शक्ति से चिन्तन करते हैं, उनके साथ ऐसा नहीं होता। पूर्ण ज्ञान परम्परा या निगमनीय (तर्कपूर्ण) ज्ञान कहलाता है। यह एक प्राधिकारी से विनीत श्रोता तक पहुँचता है, जो सेवा तथा समर्पण द्वारा प्रामाणिक होता है। ऐसा नहीं है कि कोई परमेश्वर के प्रमाण को चुनौती भी दे और उन्हें जान भी ले। उन्हें अधिकार है कि ऐसे ललकारने वाले जीव के समक्ष प्रकट ही न हों, जो परम पूर्ण का क्षुद्र स्फुलिंग मात्र है और ऐसा स्फुलिंग जो माया के अधीन है। भक्तगण विनीत होते हैं, अतः यह दिव्य ज्ञान भगवान् से ब्रह्मा को, ब्रह्मा से उनके पुत्रों तथा शिष्यों को क्रमानुसार प्राप्त होता है। इस विधि में ऐसे भक्तों के अन्तःकरण में स्थित परमात्मा द्वारा सहायता मिलती है। दिव्य ज्ञान को सीखने की यही सही विधि है।

इस अनुभूति के द्वारा भक्त आत्मा तथा पदार्थ के अन्तर को सही-सही समझ पाता है, क्योंकि आत्मा तथा पदार्थ की गाँठ भगवान् द्वारा खोली जाती है। यह ग्रन्थि अहंकार कहलाती है, जिससे जीव झूठे ही अपने को भौतिक पदार्थ मानता है। अतएव ज्योंही यह ग्रन्थि ढीली पड़ती है, संशय के सारे बादल तुरंत छँट जाते हैं। मनुष्य अपने स्वामी का दर्शन करने लगता है और सकाम कर्मों के बन्धन को समाप्त करके वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है। भौतिक जगत में जीव स्वयं सकाम कर्म की शृंखला की सृष्टि करता है और जन्म-जन्मांतर तक इन कर्मों के अच्छे तथा बुरे फलों को भोगता रहता है। किन्तु ज्योंही वह भगवान् की प्रेममय सेवा में लग जाता है,

त्योही वह कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। फिर उसके कर्मों से कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती।

अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; वै—निश्चय ही; कवयः—सारे अध्यात्मवादी; नित्यम्—अनादि काल से; भक्तिम्—भगवान् की सेवा;
परमया—परम; मुदा—अत्यन्त प्रसन्नता के साथ; वासुदेवे—श्रीकृष्ण में; भगवति—भगवान्; कुर्वन्ति—करते हैं;
आत्म—आत्मा को; प्रसादनीम्—जो प्रमुदित करने वाली है।

अतएव, निश्चय ही सारे अध्यात्मवादी अनन्त काल से अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करते आ रहे हैं, क्योंकि ऐसी भक्ति आत्मा को प्रमुदित करने वाली है।

तात्पर्य : यहाँ पर विशिष्ट रूप से भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति की विशेषता का वर्णन हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण 'स्वयंरूप' भगवान् हैं और श्रीबलदेव, संकर्षण, वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा नारायण जैसे अन्य समस्त रूपों से लेकर पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, युगावतार तथा भगवान् के अन्य हजारों स्वरूप श्रीकृष्ण के पूर्ण अंश एवं समाकलित रूप हैं। जीवात्माएँ भगवान् से पृथक हुए उनके भिन्नांश हैं। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वर के आदि रूप और दिव्यता की इति हैं। वे उन उच्च अध्यात्मवादियों के लिए अधिक आकर्षक हैं, जो भगवान् की दिव्य लीलाओं में भाग लेते हैं। श्रीकृष्ण तथा बलदेव के अतिरिक्त, भगवान् के अन्य रूपों के साथ, वैसी घनिष्ठता स्थापित नहीं हो पाती जितनी कि ब्रजभूमि में भगवान् की दिव्य लीलाओं में होती है। ऐसा नहीं है कि श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाएँ नई हों, जैसाकि कुछ अल्पज्ञ लोग समझते हैं; उनकी लीलाएँ शाश्वत हैं और ब्रह्माजी के एक दिन में एक बार यथा समय प्रकट होती हैं, जिस प्रकार प्रत्येक चौबीस घंटों की समाप्ति पर पूर्व में सूर्य का उदय होता है।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।

स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः

श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सत्त्वगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—इस प्रकार; प्रकृतेः—प्रकृति के; गुणाः—गुण; तैः—उनके द्वारा; युक्तः—समन्वित; परः—दिव्य; पुरुषः—पुरुष; एकः—एक; इह अस्य—इस भौतिक जगत का; धत्ते—स्वीकार करता है; स्थिति-आदये—उत्पत्ति, पालन तथा संहार आदि को.; हरि—विष्णु भगवान्; विरिञ्चि—ब्रह्मा; हर—शिवजी; इति—इस प्रकार; संज्ञाः—विभिन्न स्वरूप; श्रेयांसि—चरम लाभ; तत्र—वहाँ; खलु—निस्सन्देह; सत्त्व—सात्त्विक; तनोः—रूप; नृणाम्—मनुष्यों का; स्युः—प्राप्त किया।

दिव्य भगवान् प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्व, रज तथा तम—से अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध हैं और वे भौतिक जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव, इन तीन गुणात्मक रूपों को ग्रहण करते हैं। इन तीनों रूपों में से सत्त्व गुण वाले विष्णु से सारे मनुष्य परम लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : पहले जैसा यह कहा गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति उनके पूर्ण अंशों के रूप में की जाय, उसकी पुष्टि इस कथन द्वारा होती है। भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके सर्व पूर्ण अंश विष्णु-तत्त्व हैं। श्रीकृष्ण के बाद अगला प्राकट्य बलदेव का होता है, बलदेव के बाद संकर्षण, संकर्षण के बाद नारायण और नारायण से दूसरे संकर्षण, तब इन संकर्षण से विष्णु पुरुष-अवतार का प्राकट्य होता है। विष्णु अथवा सत्त्व गुण के विग्रह इस भौतिक जगत के पुरुष अवतार हैं और क्षीरोदकशायी विष्णु या परमात्मा नाम से जाने जाते हैं। ब्रह्मा रजस् के विग्रह हैं और शिव तमस् के। ये तीनों इस भौतिक जगत के तीनों गुणों के विभागाध्यक्ष हैं। विष्णु के सत्त्वगुण से इस सृष्टि का प्राकट्य सम्भव होता है और जब इसे विनष्ट करना होता है, तो शिवजी अपने ताण्डव-नृत्य से इसे नष्ट कर देते हैं। भौतिकतावादी तथा मूर्ख मनुष्य क्रमशः ब्रह्मा तथा शिव की पूजा करते हैं। किन्तु विशुद्ध अध्यात्मवादी सत्त्वगुण के रूप विष्णु की पूजा उनके विविध रूपों में करते हैं। विष्णु परमात्मा के लाखों-करोड़ों अभिन्न तथा भिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। अभिन्न रूप ईश्वर कहलाते हैं और भिन्न रूप जीव कहलाते हैं। 'जीव' तथा 'ईश्वर' दोनों के ही अपने मूल आध्यात्मिक रूप होते हैं। जीव कभी-कभी भौतिक शक्ति के वशीभूत होते रहते हैं, किन्तु विष्णु के रूप सदैव इस शक्ति को अपने वश में रखते हैं। जब भगवान् विष्णु इस भौतिक जगत में

प्रकट होते हैं, तो वे माया के वशीभूत बद्धजीवों का उद्धार करने के लिए आते हैं। ऐसे जीव इस भौतिक जगत में स्वामी (प्रभु) बनने की आन्तरिक इच्छा लेकर आते हैं और इस तरह वे प्रकृति के तीन गुणों में फँस जाते हैं। फल स्वरूप जीवों को विविध अवधि का बन्दी जीवन बिताने के लिए अपना भौतिक आवरण बदलते रहना पड़ता है। इस भौतिक जगत का बन्दीगृह भगवान् के आदेश से ब्रह्मा द्वारा सृजित होता है और एक कल्प के अंत में शिवजी द्वारा सारी वस्तुएँ नष्ट कर दी जाती हैं। किन्तु जहाँ तक इस बन्दीगृह की देखभाल का प्रश्न है, वह विष्णु द्वारा उसी प्रकार सम्पन्न किया जाता है, जिस तरह राज्यसत्ता द्वारा बन्दीगृह की देखभाल की जाती है। अतएव जो भी व्यक्ति जन्म, मृत्यु, रोग तथा वृद्धावस्था जैसे संतापों से पूर्ण इस संसार रूपी बन्दीगृह से छूटना चाहता है, उसे ऐसी मुक्ति के लिए भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना चाहिए। भगवान् विष्णु की पूजा भक्तिमय सेवा द्वारा ही सम्भव है, किन्तु यदि कोई इस भवरूपी बन्दीगृह-जीवन को चालू रखना चाहता है तो वह ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, वरुण जैसे विभिन्न देवताओं से क्षणिक सुख के लिए तत्सम्बन्धी सुविधाओं की याचना कर सकता है। किन्तु कोई भी देवता बन्दी जीव को इस जगत के बद्ध जीवन से नहीं छुड़ा सकता। केवल विष्णु ही इसे कर सकते हैं। अतएव चरम लाभ भगवान् विष्णु से ही प्राप्त किया जा सकता है।

पार्थिवादारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः ।

तमसस्तु रजस्तस्मात्सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

पार्थिवात्—पृथ्वी से; दारुणः—ईधन; धूमः—धुँआ; तस्मात्—उससे; अग्निः—अग्नि; त्रयी—वैदिक यज्ञ; मयः—से बना; तमसः—तमोगुण में; तु—लेकिन; रजः—रजोगुण; तस्मात्—उससे; सत्त्वम्—सतोगुण; यत्—जो; ब्रह्म—परम सत्य; दर्शनम्—साक्षात्कार।

अग्निकाष्ठ मृदा का रूपान्तर है, लेकिन काष्ठ से बेहतर धुँआ है। अग्नि उससे भी उत्तम है, क्योंकि अग्नि से (वैदिक यज्ञों से) हमें श्रेष्ठ ज्ञान के लाभ प्राप्त हो सकते हैं। इसी प्रकार रजोगुण तमोगुण से बेहतर है, लेकिन सत्त्वगुण सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि सत्त्वगुण से मनुष्य परम सत्य का साक्षात्कार कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भगवान् की भक्तिमय सेवा से ही इस भौतिक जगत के बद्ध जीवन से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है। इसके आगे यहाँ पर यह बताया गया है कि मनुष्य को सत्त्वगुण के पद तक ऊपर उठना होता है, जिससे वह भगवान् की भक्ति के योग्य बन सके। किन्तु यदि प्रगति में बाधाएँ आएँ, तो सक्षम गुरु के निर्देशन से *तमस* पद से भी धीरे-धीरे *सत्त्व* पद तक ऊपर उठा जा सकता है। अतः निष्ठावान व्यक्तियों को चाहिए कि प्रगति के लिए प्रामाणिक दक्ष गुरु के पास जाएँ जो उन्हें *तमस*, *रजस* या *सत्त्व* की किसी भी अवस्था से मुक्ति पद तक ले जा सके।

अतएव यह मानना एक भूल होगी कि पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के किसी भी गुण या किसी भी रूप की पूजा करना समान रूप से लाभप्रद होगा। विष्णु के अतिरिक्त, भौतिक शक्ति के वशीभूत होकर सारे भिन्नांश प्रकट होते रहते हैं, अतएव भौतिक शक्ति के विविध रूप जीव को उस *सत्त्व* के पद तक ऊपर उठने में मदद नहीं देते, जो अकेला ही मनुष्य को भव-बन्धन से छुड़ा सके।

जीवन की असभ्य अवस्था या निम्न पशु जीवन तमोगुण द्वारा नियन्त्रित होता है। मनुष्य की सभ्य अवस्था, जिसमें उसे नाना प्रकार के लाभों की कामना रहती है, रजोगुणी अवस्था है। इस अवस्था में भगवान् की रंचमात्र अनुभूति हो पाती है जो दर्शन, कला तथा चारित्रिक एवं नैतिक सिद्धान्तों से युक्त संस्कृति के रूप में प्रकट होती है, किन्तु *सत्त्वगुण* इससे भी उच्चतर गुणावस्था है, जिससे परम सत्य के साक्षात्कार में वास्तविक सहायता मिलती है। दूसरे शब्दों में, ब्रह्मा, विष्णु तथा हर नामक अधिष्ठाता देवों की विभिन्न पूजा विधियों तथा उनसे प्राप्त होने वाले फलों में गुणात्मक अन्तर होता है।

भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम् ।

सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

भेजिरे—की सेवा; मुनयः—मुनियों ने; अथ—इस प्रकार; अग्रे—पूर्वकाल में; भगवन्तम्—भगवान् के प्रति; अधोक्षजम्—अध्यात्म, गुणातीत; सत्त्वम्—अस्तित्व; विशुद्धम्—प्रकृति के तीनों गुणों से परे; क्षेमाय—परम लाभ प्राप्त करने के लिए; कल्पन्ते—योग्य हैं; ये—जो; अनु—अनुसरण करते हैं; तान्—वे; इह—इस संसार में।

पूर्वकाल में समस्त महामुनियों ने भगवान् की सेवा की, क्योंकि वे प्रकृति के तीनों गुणों से परे हैं। उन्होंने भौतिक परिस्थितियों से मुक्त होने के लिए और फलस्वरूप परम लाभ प्राप्त करने के लिए पूजा की। अतएव जो कोई इन महामुनियों का अनुसरण करता है वह भी इस भौतिक संसार में मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

तात्पर्य : धर्माचरण का प्रयोजन न तो भौतिक लाभ प्राप्त करना है, न ही आत्मा और पदार्थ के अन्तर को बताने वाले सरल ज्ञान को अर्जित करना है। धार्मिक अनुष्ठानों का चरम उद्देश्य अपने आपको भौतिक बन्धन से छुड़ाना और उस दिव्य जगत में स्वतन्त्रता का जीवन पुनः प्राप्त करना है, जहाँ भगवान् ही प्रधान रहते हैं। अतएव धार्मिक नियमों का संचालन स्वयं भगवान् द्वारा होता है तथा धर्म का उद्देश्य महाजनों अर्थात् भगवान् के अधिकृत प्रतिनिधियों के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। भगवान् के ऐसे बारह महाजन हैं, जो धर्म के उद्देश्य को जानते हैं और वे सभी भगवान् की दिव्य सेवा में लगे रहते हैं। जो लोग अपना हित चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि इन महाजनों का अनुसरण करें और उससे परम लाभ प्राप्त करें।

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ ।

नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

मुमुक्षवः—मोक्षकामी व्यक्ति; घोर—भयानक; रूपान्—रूपों को; हित्वा—त्याग कर; भूत-पतीन्—देवतागण; अथ—इस कारण से; नारायण—भगवान् के; कलाः—स्वांशों; शान्ताः—परम आनन्दमय; भजन्ति—पूजा करते हैं; हि—निश्चय ही; अनसूयवः—द्वेषरहित।

जो लोग मोक्ष के प्रति गम्भीर हैं, वे निश्चय ही द्वेषरहित होते हैं और सबका सम्मान करते हैं। किन्तु, फिर भी वे देवताओं के घोर रूपों का अस्वीकार करके, केवल भगवान् विष्णु तथा उनके स्वांशों के कल्याणकारी रूपों की ही पूजा करते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जो विष्णु कोटि के रूपों के मूल रूप हैं, वे दो भिन्न कोटियों में अपना विस्तार करते हैं—पूर्ण या समग्र अंश तथा भिन्न अंश। भिन्नांश सेवक हैं और *विष्णु-तत्त्व* के पूर्णांश सेव्य तथा पूज्य हैं।

भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त सारे देवता भी भिन्नांश हैं। वे *विष्णु-तत्त्व* की कोटि में नहीं आते। *विष्णु-तत्त्व* वे पुरुष हैं, जो भगवान् के आदि रूप के ही समान शक्तिमान हैं और वे विभिन्न कालों तथा परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न कोटि की शक्तियाँ प्रदर्शित करते हैं। भिन्नांश सीमित शक्ति वाले होते हैं। उनमें विष्णुतत्त्वों की तरह असीम शक्ति नहीं होती। अतः *विष्णु-तत्त्वों* या भगवान् नारायण के पूर्णांशों की गणना कभी भिन्नांशों के साथ नहीं करनी चाहिए। यदि कोई ऐसा करता है तो वह पाषण्डी अर्थात् पाखंडी होने का अपराध करता है। इस कलियुग में अनेक मूर्ख व्यक्ति ऐसा अवैध अपराध करते हैं और दोनों कोटियों को समान बताते हैं।

ये विभिन्न अंश अपनी-अपनी भौतिक शक्तियों के अनुसार विभिन्न पदों पर आसीन हैं—यथा काल-भैरव, श्मशान-भैरव, शनि, महाकाली तथा चण्डिका। इन देवताओं की पूजा वे ही लोग करते हैं, जो तमोगुण की निम्नतम अवस्था में होते हैं। ब्रह्मा, शिव, सूर्य, गणेश तथा अन्य ऐसे ही देव उन लोगों द्वारा पूजे जाते हैं, जो भौतिक भोग से प्रेरित होने के कारण रजोगुणी होते हैं। किन्तु जो सचमुच सतोगुणी हैं, वे केवल *विष्णु-तत्त्वों* की पूजा करते हैं। *विष्णु-तत्त्वों* के अनेक नाम तथा रूप हैं—यथा नारायण, दामोदर, वामन, गोविन्द तथा अधोक्षज।

सुयोग्य ब्राह्मण शालिग्राम शिला द्वारा निरूपित *विष्णु-तत्त्वों* की पूजा करते हैं और क्षत्रिय तथा वैश्य जैसे कुछ उच्चतर वर्ण के लोग भी सामान्यतया *विष्णु-तत्त्वों* की पूजा करते हैं।

सतोगुणी योग्यतम ब्राह्मण कभी भी अन्यो की पूजा विधि से ईर्ष्या नहीं करते। वे अन्य देवताओं का पूर्ण आदर करते हैं, यद्यपि काल-भैरव या महाकाली जैसे देवताओं का रूप अन्यन्त भयानक है। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि परमेश्वर के ये सारे भयानक लक्षण विभिन्न परिस्थितियों में उनके विभिन्न सेवकों के रूप हैं। किन्तु, इतने पर भी, वे देवताओं के भयानक तथा आकर्षक दोनों ही रूपों को त्याग कर केवल विष्णुरूपों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, क्योंकि

वे भौतिक जगत से मोक्ष पाने की उत्कट इच्छा रखते हैं। सारे देवता, यहाँ तक कि देवों में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मा तक, किसी को मोक्ष नहीं दिला सकते। हिरण्यकशिपु ने अमर होने के लिए कठोर तपस्या की थी, किन्तु उसके पूज्य देव ब्रह्मा उसे वैसा वर देकर प्रसन्न नहीं कर सके। इसीलिए विष्णु के अतिरिक्त अन्य कोई मुक्तिपाद या मुक्ति के प्रदाता भगवान् नहीं कहलाते। सारे देवता भी भौतिक सृष्टि के अन्य जीवों की भाँति इस भौतिक सृष्टि के संहार के समय नष्ट हो जाते हैं। जब वे स्वयं मुक्ति नहीं पा सकते तो फिर अपने भक्तों को वे किस तरह मुक्ति दिला सकते हैं? ये देवता अपनी पूजा करने वालों को कुछ क्षणिक लाभ ही प्रदान कर सकते हैं, परम लाभ नहीं।

यही कारण है कि मुमुक्षुजन देवताओं की पूजा का परित्याग करते हैं, यद्यपि वे उनमें से किसी के प्रति असम्मान नहीं दिखाते।

रजस्तमःप्रकृतयः समशीला भजन्ति वै ।

पितृभूतप्रजेशादीन्श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; प्रकृतयः—उस स्वभाव का; सम-शीलाः—एक ही कोटि के; भजन्ति—पूजा करते हैं; वै—निश्चय ही; पितृ—पितरगण; भूत—अन्य जीव; प्रजेश-आदीन्—प्रजापति इत्यादि; श्रिया—सम्पन्नता; ऐश्वर्य—सम्पत्ति तथा शक्ति; प्रजा—सन्तति, सन्तान; ईप्सवः—ऐसी इच्छा करते हुए।

जो लोग रजोगुणी तथा तमोगुणी हैं वे पितरों, अन्य जीवों तथा उन देवताओं की पूजा करते हैं, जो सृष्टि सम्बन्धी कार्यकलापों के प्रभारी हैं, क्योंकि वे स्त्री, धन, शक्ति तथा सन्तान का लाभ उठाने की इच्छा से प्रेरित होते हैं।

तात्पर्य : यदि मनुष्य भगवान् के धाम को वापस जाने के बारे में गम्भीर है तो उसे किसी भी कोटि के देवता की पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। *भगवद्गीता* (७.२०, २३) में ऐसा स्पष्ट कहा गया है कि जो लोग भौतिक भोगों के पीछे पागल रहते हैं, वे अपने क्षणिक लाभ के लिए विभिन्न देवताओं के पास जाते हैं, किन्तु ऐसे लाभ तो अल्पज्ञों के लिए हैं। हमें कभी भी भौतिक भोग की इच्छा को प्रबल नहीं बनाना चाहिए। भौतिक भोग जीवन में उतना ही अपनाया जाय जितना जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए जरूरी हो, न उससे कम, न ज्यादा।

अधिक भौतिक भोग अपनाने का अर्थ है, अपने आप को भौतिक संसार के कष्टों से अधिकाधिक बाँधना। जो लोग भौतिकता में निमग्न हैं, उन्हें अधिक धन, अधिक स्त्रियाँ तथा झूठी कुलीनता जैसी वस्तुएँ चाहिए, क्योंकि वे विष्णु की पूजा से प्राप्त होने वाले लाभ से अनजान रहते हैं। विष्णु की पूजा से इस जीवन में लाभ तो मिलता ही है, किन्तु मृत्यु के बाद अगले जीवन में भी लाभ मिलता है। इन सिद्धान्तों को भूल कर जो लोग अधिक धन, अधिक स्त्रियाँ तथा अधिक सन्तान चाहते हैं, ऐसे लोग विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं। जीवन का लक्ष्य जीवन के कष्टों को समाप्त करना है, उन्हें बढ़ाना नहीं।

भौतिक सुख के लिए देवताओं के पास जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। ये देवता भगवान् के दास मात्र हैं। फलतः ये जल, वायु, प्रकाश आदि के रूप में जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान करने के लिए बाध्य हैं। *मनुष्य को चाहिए कि जीने के लिए कठोर श्रम करे और इसी श्रम के फल से भगवान् की पूजा करे। यही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।* उसे भगवान् में श्रद्धा रखते हुए उचित ढंग से अपने वृत्तिपरक धर्म का पालन करना चाहिए। इससे वह धीरे-धीरे भगवान् के धाम पहुँच सकेगा।

जब भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रजधाम में विद्यमान थे, तो उन्होंने इन्द्र की पूजा बन्द करा दी थी और ब्रजवासियों को सलाह दी थी कि वे अपने व्यवसाय (कर्म) द्वारा ईश्वरकी पूजा करें और उनमें श्रद्धा रखें। भौतिक लाभ के लिए बहुदेव-पूजा धर्म की विकृति है। *भागवत* के प्रारम्भ में ही इस प्रकार की धार्मिकता की निन्दा *कैतवधर्म* कह कर की गई है। संसार में केवल एक ही धर्म है जिसका पालन हर एक को करना चाहिए और वह है *भागवत-धर्म* जो केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा सिखाता है, अन्य किसी की नहीं।

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।

वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥ २८ ॥

वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।

वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

वासुदेव—भगवान्; परा:—परम लक्ष्य; वेदा:—प्रामाणिक शास्त्र; वासुदेव—भगवान्; परा:—पूजा करने के लिए; मखा:—यज्ञ; वासुदेव—भगवान्; परा:—प्राप्त करने के साधन; योगा:—यौगिक साज-सामग्री; वासुदेव—भगवान् के; परा:—उनके अधीन; क्रिया:—सकाम कर्म; वासुदेव—भगवान्; परम्—परम; ज्ञानम्—ज्ञान; वासुदेव—भगवान्; परम्—सर्वश्रेष्ठ; तप:—तपस्या; वासुदेव—भगवान्; पर:—सर्वोच्च गुण; धर्म:—धर्म; वासुदेव—भगवान्; परा:—चरम; गति:—जीवन का लक्ष्य।

प्रामाणिक शास्त्रों में ज्ञान का परम उद्देश्य पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर श्रीकृष्ण हैं। यज्ञ करने का उद्देश्य उन्हें ही प्रसन्न करना है। योग उन्हीं के साक्षात्कार के लिए है। सारे सकाम कर्म अन्ततः उन्हीं के द्वारा पुरस्कृत होते हैं। वे परम ज्ञान हैं और सारी कठिन तपस्याएँ उन्हीं को जानने के लिए की जाती हैं। उनकी प्रेमपूर्ण सेवा करना ही धर्म है। वे ही जीवन के चरम लक्ष्य हैं।

तात्पर्य : इन दो श्लोकों में पुष्टि हुई है कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही पूजा के पात्र हैं। वैदिक साहित्य का लक्ष्य भी यही है कि भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाय और हमारी भूली हुई प्रेममयी सेवा को पुनरुज्जीवित किया जाय। यही वेदों का सार-तत्व है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि भगवान् द्वारा *भगवद्गीता* में अपने ही शब्दों में इस प्रकार की गई है : वेदों का चरम उद्देश्य केवल उन्हें जानना है। सारे प्रामाणिक शास्त्र भगवान् द्वारा, श्रील व्यासदेव के शरीर के रूप में अवतरित होकर भौतिक प्रकृति से बद्ध पतितात्माओं को भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण कराने के लिए निर्मित किये गये हैं। कोई भी देवता भौतिक बन्धन से मुक्ति नहीं दिला सकता। यही समस्त वैदिक ग्रन्थों का निर्णय है। निर्विशेषवादी, जिन्हें भगवान् के व्यक्तित्व का ज्ञान नहीं होता, भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता को कम बताते हैं, क्योंकि वे उन्हें भी अन्य समस्त साधारण जीवों के समान बताते हैं। इसी कारण से निर्विशेषवादियों को बड़ी ही कठिनाई से भौतिक बन्धन से मुक्ति मिल पाती है। वे अनेक जन्मों तक दिव्य ज्ञान का अनुशीलन करने के बाद ही उनकी शरण में जा पाते हैं।

कोई यह तर्क कर सकता है कि वैदिक कर्म याज्ञिक अनुष्ठानों पर टिके हैं। यह सच है। किन्तु ऐसे सारे यज्ञ वासुदेव की वास्तविक अनुभूति के लिए भी होते हैं। वासुदेव का अन्य नाम *यज्ञ* है और *भगवद्गीता* में यह स्पष्ट कहा गया है कि सारे यज्ञ तथा कर्म, *यज्ञ* या भगवान् विष्णु

को प्रसन्न करने के लिए ही किये जाने चाहिए। यही बात योग-पद्धति पर भी लागू होती है। योग का अर्थ है परमेश्वर से सम्पर्क स्थापित करना। किन्तु, इस विधि में आसन, ध्यान, प्राणायाम जैसी शारीरिक क्रियाएँ सम्मिलित रहती हैं और ये सब परमात्मास्वरूप अन्तर्यामी वासुदेव पर ध्यान केन्द्रित करने के निमित्त होती हैं। परमात्मा-साक्षात्कार तो वासुदेव का आंशिक साक्षात्कार है और यदि कोई इस प्रयास में सफल होता है, तो उसे वासुदेव का पूर्ण साक्षात्कार होता है। किन्तु अधिकांश योगी दुर्भाग्यवश शारीरिक विधि से प्राप्त यौगिक शक्तियों के द्वारा विपथ हो जाते हैं। ऐसे दुर्भाग्यशाली योगियों को अगले जन्म में विद्वान ब्राह्मणों या सम्पन्न वैश्यों के कुल में जन्म दिया जाता है, जिससे वे वासुदेव-साक्षात्कार के अधूरे कार्य को पूरा कर सकें। यदि ऐसे भाग्यवान ब्राह्मण तथा वैश्य-पुत्र अवसर का लाभ उठाते हैं, तो साधु पुरुषों की संगति से उन्हें सरलता से वासुदेव-साक्षात्कार हो जाता है। दुर्भाग्यवश ऐसे भाग्यशाली लोग भौतिक सम्पत्ति तथा सम्मान से पुनः वशीभूत हो जाते हैं और अपने जीवन-लक्ष्य को व्यवहारतः भूल जाते हैं।

ज्ञान के अनुशीलन में भी यही बात लागू होती है। *भगवद्गीता* के अनुसार ज्ञान के अनुशीलन के लिए अठारह बातें हैं। ज्ञान के ऐसे अनुशीलन से मनुष्य क्रमशः अभिमानरहित, मदरहित, अहिंसक, सहिष्णु, सरल, गुरुभक्त तथा आत्मसंयमी बन जाता है। ज्ञान के अनुशीलन से वह घर-बार से अनासक्त हो जाता है और जन्म, मृत्यु जरा तथा व्याधि के कष्टों से अवगत हो जाता है। ज्ञान का सारा अनुशीलन भगवान् वासुदेव की भक्तिमय सेवा में जाकर समाप्त होता है। अतएव वासुदेव ही ज्ञान की समस्त शाखाओं के अनुशीलन के चरम लक्ष्य हैं। ज्ञान का जो अनुशीलन वासुदेव के मिलन के दिव्य स्तर तक ऊपर उठा सके, वही वास्तविक ज्ञान है। *भगवद्गीता* में भौतिक ज्ञान की विविध शाखाओं को *अज्ञान* की संज्ञा देकर तिरस्कृत किया गया है। भौतिक ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य इन्द्रियों की तृप्ति करना है, जिसका अर्थ हुआ भौतिक जीवन को दीर्घ बनाना और इस प्रकार तीनों तापों का जारी रहना। अतः इस भौतिक जगत में कष्टमय जीवन की दीर्घ बनाना ही अज्ञान है। किन्तु यदि यही भौतिक ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान की दिशा में अग्रसर होता है,

तो वह कष्टमय भौतिक अस्तित्व का अन्त करने में सहायक हो जाता है और वासुदेव धरातल पर आध्यात्मिक-जीवन का शुभारम्भ होता है।

यही बात समस्त तपस्याओं को लागू होती है। *तपस्या* का अर्थ ही है किसी उच्चतर जीवन-उद्देश्य के लिए स्वेच्छा से शारीरिक कष्टों को सहना। रावण तथा हिरण्यकशिपु ने इन्द्रियतृप्ति को उद्देश्य बनाकर नाना प्रकार के दारुण शारीरिक कष्ट झेले थे। कभी-कभी आधुनिक राज-नेता भी अपना राजनीतिक काम साधने के लिए कठिन तपस्याएँ करते हैं। यह वास्तव में तपस्या नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि वासुदेव को जानने के लिए स्वेच्छा से शारीरिक असुविधाएँ स्वीकार करें, क्योंकि वास्तविक तपस्या की यही विधि है। अन्यथा अन्य सारी तपस्याएँ रजोगुणी तथा तमोगुणी मानी जाती हैं। रजोगुण तथा तमोगुण से जीवन के कष्टों का अन्त नहीं हो सकता। केवल सत्त्वगुण ही जीवन के तीनों तापों को कम कर सकता है। भगवान् कृष्ण के माता-पिता के रूप में प्राख्यात वसुदेव तथा देवकी ने वासुदेव को पुत्र रूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या की थी। भगवान् कृष्ण समस्त जीवों के जनक हैं (*भगवद्गीता* १४.४) अतएव वे समस्त जीवों में आदि पुरुष हैं। वे ही समस्त भोक्ताओं में आदि भोक्ता हैं। अतएव कोई उन्हें उत्पन्न करने वाला पिता नहीं हो सकता, जैसाकि अज्ञानी लोग सोचते हैं। वसुदेव तथा देवकी की घोर तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् कृष्ण ने उनका पुत्र बनना स्वीकार किया। अतएव यदि कोई तपस्या करनी है, तो ज्ञान की पराकाष्ठा, वासुदेव, को लक्ष्य बनाकर ही की जानी चाहिए।

वासुदेव आदि भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, आदि भगवान् असंख्य रूपों में अपना विस्तार करते हैं। रूपों का ऐसा विस्तार उनकी विविध शक्तियों द्वारा सम्भव हो पाता है। उनकी शक्तियाँ भी अनेकानेक हैं। गुणता में उनकी अन्तरंगा शक्तियाँ श्रेष्ठ होती हैं और बहिरंगा शक्तियाँ निकृष्ट होती हैं। *भगवद्गीता* (७.४-६) में इन्हें क्रमशः *परा* तथा *अपरा* प्रकृति कहा गया है। अतएव अन्तरंगा शक्तियों के द्वारा विविध रूपों में होने वाला उनका विस्तार श्रेष्ठ होता है और बहिरंगा शक्तियों द्वारा होने वाला विस्तार निकृष्ट होता है। जीवात्माएँ भी उन्हीं के विस्तार (अंश) हैं। जो जीवात्माएँ उनकी अन्तरंगा शक्ति के विस्तार से उद्भूत होते हैं, वे नित्य

मुक्त होते हैं और जो भौतिक शक्तियों से उद्भूत होते हैं, वे नित्य बद्ध होते हैं। अतएव ज्ञान, तप, त्याग तथा कर्म का सारा अनुशीलन हम पर पड़ने वाले प्रभावों को बदलने के लिए किया जाना चाहिए। इस समय हम सभी भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा नियन्त्रित हो रहे हैं, अतएव इसके प्रभाव (फल) को बदलने के लिए हमें आध्यात्मिक शक्ति का अनुशीलन करना चाहिए। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो महात्मा हैं या जिनके हृदय इतने विशाल हो चुके हैं कि वे भगवान् कृष्ण की सेवा में लगे रहते हैं, वे अन्तरंगा शक्ति के वश में रहते हैं और इसका फल यह होता है कि ऐसे विशाल हृदय वाले लोग बिना विचलित हुए भगवान् की सेवा में लगे ही रहते हैं। यही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए और यही समस्त वैदिक साहित्य का निर्णय है। किसी को सकाम कर्म या दिव्य ज्ञान के विषय में शुष्क चिन्तन करने की जरूरत नहीं है। सभी को चाहिए कि तुरन्त भगवान् की दिव्य प्रेममय सेवा में लग जाएं। मनुष्य को न तो उन विभिन्न देवताओं की पूजा करनी चाहिए, जो सृष्टि की उत्पत्ति, पालन तथा संहार का कार्य करने वाले भगवान् के हाथ की भाँति हैं। ऐसे अंसख्य शक्तिशाली देवता हैं, जो भौतिक जगत की बाह्य व्यवस्था की देख-रेख करते हैं। वे सब भगवान् वासुदेव के सहायकों के समान हैं। यहाँ तक कि ब्रह्माजी तथा शिवजी की गणना भी देवताओं में होती है, किन्तु भगवान् विष्णु या वासुदेव तो सदा दिव्य पद पर रहते हैं। यद्यपि वे भौतिक जगत के सतोगुण को स्वीकार करते हैं, किन्तु फिर भी वे समस्त भौतिक गुणों से परे रहते हैं। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी। एक बन्दीगृह में बन्दी होते हैं और बन्दीगृह के व्यवस्थापक भी होते हैं। किन्तु बन्दी तथा व्यवस्थापक दोनों राजा के नियमों से बँधे होते हैं। लेकिन यदि कभी-कभार राजा बन्दीगृह में आता है, तो वह बन्दीगृह के नियमों से बँधा नहीं होता। राजा सदैव बन्दीगृह के नियमों से परे होता है, ठीक उसी तरह जिस तरह भगवान् इस भौतिक जगत के नियमों से परे होते हैं।

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया ।

सदसद्रूपया चासौ गुणमयागुणो विभुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—ही; इदम्—इस; ससर्ज—उत्पन्न किये गये; अग्रे—पहले; भगवान्—भगवान्; आत्म-मायया—अपनी निजी शक्ति से; सत्—कारण; असत्—प्रभाव, फल; रूपया—रूपों के द्वारा; च—तथा; असौ—वही भगवान्; गुण-मय—भौतिक प्रकृति के गुणों में; अगुणः—दिव्य; विभुः—परम।

इस भौतिक सृष्टि के प्रारम्भ में, उन भगवान् (वासुदेव) ने अपने दिव्य पद पर रहकर अपनी ही अन्तरंगा शक्ति से कारण तथा कार्य की शक्तियाँ उत्पन्न कीं।

तात्पर्य : भगवान् कि स्थिति सदैव दिव्य रहती है, क्योंकि भौतिक जगत की सृष्टि के लिए आवश्यक कारण-कार्य शक्तियाँ भी उन्हीं के द्वारा उत्पन्न की गई हैं। अतएव वे भौतिक गुणों से अप्रभावित रहते हैं। उनका अस्तित्व, रूप, कार्य तथा साज सामग्री, ये सब भौतिक सृजन के पहले से विद्यमान थे।* वे पूर्ण रूप से आध्यात्मिक हैं और उन्हें इस भौतिक जगत के गुणों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, क्योंकि ये गुण भगवान् के आध्यात्मिक गुणों से भिन्न हैं।

*मायावाद विचारधारा के प्रधान श्रीपाद शंकराचार्य ने *भगवद्गीता* के अपने भाष्य में श्रीकृष्ण के इस दिव्य पद को स्वीकार किया है।

footnote ends here.

तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव ।

अन्तःप्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तया—उन्के द्वारा; विलसितेषु—यद्यपि कार्य में; एषु—इन; गुणेषु—भौतिक प्रकृति के गुणों में; गुणवान्—गुणों से प्रभावित होने वाला; इव—मानो; अन्तः—भीतर; प्रविष्टः—घुसा हुआ; आभाति—प्रतीत होता है; विज्ञानेन—दिव्य चेतना से; विजृम्भितः—पूर्ण रूप से प्रकाशित।

भौतिक पदार्थ की उत्पत्ति करने के बाद, भगवान् (वासुदेव) अपना विस्तार करके उसमें प्रवेश करते हैं। यद्यपि वे प्रकृति के गुणों में रहते हुए उत्पन्न जीवों में से एक जैसे लगते हैं, किन्तु वे सदैव अपने दिव्य पद पर पूर्ण रूप से आलोकित रहते हैं।

तात्पर्य : जीवात्माएँ भगवान् के विभिन्न अंश-प्रत्यंश हैं और जो बद्ध-जीवात्माएँ आध्यात्मिक जगत में रहने लायक नहीं हैं, उन्हें इस भौतिक जगत में डाल दिया जाता है जिससे वे जी भरकर पदार्थ का भोग कर सकें। परमात्मा के रूप में तथा जीवों के नित्य सखा के तौर पर

भगवान् अपने किसी एक पूर्ण अंश के द्वारा जीवों के साथ रहकर उनके भौतिक भोगों में पथप्रदर्शक बनते हैं और उनके सारे कार्यकलापों के साक्षी रहते हैं। जहाँ जीवात्माएँ भौतिक भोग करते हैं, वहीं भगवान् भौतिक वातावरण से प्रभावित हुए बिना अपने दिव्य पद पर बने रहते हैं। श्रुतियों में कहा गया है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी हैं।* इनमें से एक वृक्ष का फल खा रहा है और दूसरा उसकी गतिविधियाँ देख रहा है। यह साक्षी भगवान् है और फल को खाने वाला पक्षी जीवात्मा है। फल खाने वाला (जीवात्मा) अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है और भौतिक जगत के सकाम कर्मों में बुरी तरह व्यस्त है, जब कि भगवान् (परमात्मा) सदैव दिव्य ज्ञान से परिपूर्ण रहते हैं। परमात्मा तथा बद्धजीव में यही अन्तर है। बद्धजीव या जीवात्मा प्रकृति के नियमों के वशीभूत रहता है, जबकि परमात्मा भौतिक शक्ति के नियन्त्रक हैं।

*द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यन्यौः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

(मुण्डक उपनिषद् ३.१.१)

footnote ends here. (... delete while formating in quark)

यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु ।

नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हि—उसी तरह; अवहितः—से युक्त; वह्निः—अग्नि; दारुषु—काष्ठ में; एकः—एक; स्व-योनिषु—अपनी योनियों में; नाना इव—अनेक जीवों की तरह; भाति—प्रकाशित होता है; विश्व-आत्मा—परमात्मा रूप भगवान्; भूतेषु—जीवों में; च—तथा; तथा—उसी तरह; पुमान्—परम पुरुष।

परमात्मा रूप में भगवान् सभी वस्तुओं में उसी तरह व्याप्त रहते हैं जिस तरह काष्ठ के भीतर अग्नि व्याप्त रहती है और इस प्रकार यद्यपि वे एक एवं अद्वितीय हैं, वे अनेक प्रकार से दिखते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव अपने किसी एक पूर्णांश से सारे भौतिक जगत में विस्तार करते हैं और उनका अस्तित्व परमाणु ऊर्जा तक के भीतर देखा जा सकता है। पदार्थ,

प्रतिपदार्थ, प्रोटान, न्यूट्रान आदि भगवान् के परमात्मा रूप के विभिन्न परिणाम हैं। जिस प्रकार काष्ठ से अग्नि प्रकट होती है या दूध से मक्खन निकलता है, उसी प्रकार परमात्मा रूप में भगवान् की उपस्थिति उन दिव्य विषयों के वैध श्रवण तथा कीर्तन की सम्मत विधि द्वारा अनुभव की जा सकती है, जिनका वर्णन उपनिषदों तथा वेदान्त जैसे वैदिक साहित्य में विशेष रूप से हुआ है। श्रीमद्भागवत ऐसे वैदिक साहित्य की प्रामाणिक व्याख्या है। भगवान् की अनुभूति दिव्य सन्देश के श्रवण द्वारा की जा सकती है और दिव्य विषय को अनुभव करने का एकमात्र यही तरीका है। जिस प्रकार किसी अन्य अग्नि द्वारा जलाने पर काष्ठ से अग्नि प्रकट होती है उसी प्रकार मनुष्य की दैवी चेतना अन्य दैवी अनुकम्पा से ही प्रकाशित की जा सकती है। श्री श्रीमद् पूज्य गुरु काष्ठ रूप जीवात्मा में विनम्रता से श्रवण करने वाले कर्णों द्वारा समुचित दिव्य सन्देश प्रविष्ट कराकर आध्यात्मिक अग्नि प्रज्वलित करा सकते हैं। अतएव विनम्रता से सुनने की इच्छा के साथ ही समुचित गुरु के पास जाना चाहिए। इस प्रकार धीरे-धीरे दैवी अस्तित्व की अनुभूति हो जाती है। पशुता तथा मानवता का भेद इसी विधि पर आधारित है। मनुष्य ठीक से सुन सकता है, जबकि पशु ऐसा नहीं कर सकता।

असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः ।

स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

असौ—वे परमात्मा; गुण-मयैः—प्रकृति के गुणों से प्रभावित; भावैः—स्वाभाविक रूप से; भूत—उत्पन्न; सूक्ष्म—सूक्ष्म; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्मभिः—जीवों द्वारा; स्व-निर्मितेषु—अपनी ही सृष्टि में; निर्विष्टः—प्रवेश करके; भुङ्क्ते—भोग के लिए प्रेरित करते हैं; भूतेषु—जीवों में; तद्-गुणान्—प्रकृति के वे गुण।

भौतिक जगत के तीन गुणों से प्रभावित हुए जीवों के देह में परमात्मा प्रविष्ट होते हैं

और सूक्ष्म मन के द्वारा तीन गुणों के फल भोगने के लिए जीवों को प्रेरित करते हैं।

तात्पर्य : सर्वाधिक बुद्धिमान जीव ब्रह्मा से लेकर नगण्य चींटी तक जीवों की ८४,००,००० लाख योनियाँ हैं और ये सब की सब अपने सूक्ष्म मन तथा स्थूल शरीर की इच्छाओं के अनुसार भौतिक संसार का भोग करती हैं। स्थूल भौतिक शरीर सूक्ष्म मन की अवस्थाओं पर आधारित

होता है और इन्द्रियाँ जीव की इच्छानुसार उत्पन्न की जाती हैं। भगवान्, परमात्मा रूप में, जीव को भौतिक सुख प्राप्त करने में सहायक बनते हैं, क्योंकि जीव अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी भौतिक सुख प्राप्त करने में पूर्ण रूप से अक्षम है। वह इच्छा करने वाला है और भगवान् उसका नियमन करने वाले हैं। आशय यह है कि सारे जीव भगवान् के अंश हैं, अतएव वे भगवान् से अभिन्न हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने विविध शरीरधारी जीवों को अपना पुत्र कहा है। पुत्रों के सुख एवं दुख परोक्ष रूप से पिता के भी सुख एवं दुख होते हैं; तो भी पुत्रों के सुख-दुख से पिता प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं होते। वे इतने दयालु हैं कि वे जीव के साथ परमात्मा रूप में निरन्तर बने रहते हैं और जीव को वास्तविक सुख की ओर प्रेरित करते रहते हैं।

भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः ।

लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

भावयति—पालन करते हैं; एषः—इन सबका; सत्त्वेन—सतो गुण से; लोकान्—ब्रह्माण्ड भर में; वै—सामान्य रूप से; लोक-भावनः—समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी; लीला—कार्यकलाप; अवतार—अवतार; अनुरतः—भूमिका ग्रहण करते हुए; देव—देवता; तिर्यक्—निम्न पशु; नर-आदिषु—मनुष्यों में।

इस प्रकार सारे ब्रह्माण्डों के स्वामी देवताओं, मनुष्यों तथा निम्न पशुओं से आवासित सारे ग्रहों का पालन-पोषण करने वाले हैं। वे अवतरित होकर शुद्ध सत्त्वगुण में रहने वालों के उद्धार हेतु लीलाएँ करते हैं।

तात्पर्य : भौतिक ब्रह्माण्ड अनगिनत हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में असंख्य ग्रह हैं, जिनमें विविध गुणों वाले विभिन्न कोटि के जीव निवास करते हैं। भगवान् (विष्णु) इनमें से प्रत्येक लोक में तथा प्रत्येक जीव-समूह में अवतरित होते रहते हैं। वे उनके बीच अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं, जिससे उनमें भगवान् के धाम वापस जाने की रुचि उत्पन्न हो। भगवान् अपनी मूल दिव्य अवस्था को बदलते नहीं, अपितु देश, काल तथा समाज के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होते हैं।

कभी वे स्वयं अवतरित होते हैं तो कभी किसी उपयुक्त जीव को अपना प्रतिनिधि बनाकर उसे शक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु प्रत्येक दशा में प्रयोजन एक ही रहता है—भगवान् चाहते हैं कि दुख उठाने वाला जीव उनके पास अर्थात् भगवद्धाम वापस आ जाय। सारे जीव जिस सुख के पीछे दीवाने रहते हैं, वह असंख्य ब्रह्माण्डों में और भौतिक ग्रहों के किसी भी कोने में कहीं भी प्राप्य नहीं है। जीव जिस शाश्वत सुख की कामना करता है, वह केवल भगवान् के धाम में उपलब्ध है, किन्तु विस्मरणशील जीव, प्रकृति के गुणों के वश में आकर, भगवान् के धाम के विषय में कुछ भी नहीं जानता। अतः भगवान् अपने धाम का सन्देश प्रसारित करने के लिए स्वयं अवतरित होते हैं या ईशपुत्र के रूप में अपना प्रामाणिक प्रतिनिधि बनकर आते हैं। ऐसे अवतार या ईशपुत्र, भगवद्-धाम जाने के सन्देश का प्रचार केवल मानव समाज में ही नहीं करते हैं, बल्कि उनका काम सभी समाजों में, देवताओं में तथा मनुष्यों के अतिरिक्त अन्यो में भी चलता रहता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत “दिव्यता तथा दिव्य सेवा” नामक द्वितीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।